॥ श्रीहरिः ॥

287

बालकोंके कर्तव्य

जयदयाल गोयन्दका

॥ श्रीहरिः ॥

बालकोंके कर्तव्य

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

सम्पादक—जयदयाल गोयन्दका

287 Balko ke Kartavya_Section_1_Front

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

'बालकोंके कर्तव्य' नामक इस पुस्तिकामें ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रभावशाली बालकोपयोगी दो निबन्धोंको प्रकाशित किया गया है। इनमें हमारी पवित्र भारतीय संस्कृतिके अनुसार बालकोंके जीवनको शुद्ध, समुन्नत तथा सुखी बनानेवाले कर्तव्यका बड़ा ही सुन्दर शास्त्रीय बोध कराया गया है। आजकी बढ़ती हुई अनुशासनहीनता एवं उच्छृंखलताओंके वातावरणमें इस पुस्तिकाके प्रचारसे बहुत कुछ सुधार हो सकता है। अतएव इसके प्रचारका जितना भी प्रयास हो, उतना ही उत्तम है।

निवेदक—

हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

बालकोंके कर्तव्य

[१]

बालकोंके कर्तव्य

भारतमें आजकल बालकोंको जो शिक्षा-दीक्षा प्राप्त हो रही है, वह भारतीय संस्कृतिके लिये तो घातक है ही, उन बालकोंके लिये भी अत्यन्त हानिकर और उनके जीवनको असंयमपूर्ण, रोगग्रस्त, दुःखी बनाकर अन्तमें मानव-जीवनके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिसे वंचित रखनेवाली है। अधिकांश बुद्धिमान् सज्जन बहुत विचार-विनिमयके अनन्तर इसी निर्णयपर पहुँचे हैं कि हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली हमारे बालकोंके लिये सर्वथा अनुपयोगी है। त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंका जो अनुभव था, वह सब प्रकारसे इस लोक और परलोकमें कल्याणकारक था पर आज हमलोग उनके अनुभवके लाभसे वंचित हो रहे हैं; क्योंकि उन महानुभावोंकी जो भी शिक्षा है, वह शास्त्रोंमें है तथा अन्य प्रकारके व्यर्थके कार्योंमें समय खो देनेके कारण समयाभावसे और श्रद्धा, भक्ति, रुचिकी कमीसे हमलोग शास्त्र पढ़ते नहीं, अतः उनसे प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं। हमारी संतान तो इस ज्ञानसे प्रायः सर्वथा ही शून्य है और होती जा रही है। इसलिये भारतीय संस्कृतिके प्रति श्रद्धा रखनेवालों तथा बालकोंके सच्चे शुभ-चिन्तकोंको ऐसी शिक्षा-पद्धति बनानेका प्रयत्न करना चाहिये, जिससे बालक-बालिकाओंमें वर्णाश्रमधर्म, ईश्वरभक्ति, माता-पिताकी सेवा, देवपूजा, श्राद्ध, एकनारीव्रत, सतीत्व आदिमें

श्रद्धा उत्पन्न हो। साथ ही अभिभावकोंको स्वयं इनका पालन करना चाहिये। जो अभिभावक स्वयं सद्गुण-सदाचारका पालन नहीं करता, उसका बच्चोंपर असर नहीं हो सकता। ऐसी उत्तम शिक्षाके लिये गीता, भागवत, रामचरितमानस, वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायण, महाभारत, जैमिनीय-अश्वमेध, पद्मपुराण, मनुस्मृति आदि धार्मिक ग्रन्थोंका स्वयं अध्ययन करना चाहिये और बालक-बालिकाओंको कराना चाहिये। यदि प्रतिदिन अपने घरमें, चाहे एक घंटा या आधा घंटा ही हो, सब मिलकर इन ग्रन्थोंका क्रमसे अध्ययन करें तो बालकोंको घर बैठे ही शास्त्रज्ञान हो सकता है। इस प्रकारके अभ्याससे ऋषि, मुनि, महात्मा, शास्त्र, ईश्वर और परलोकमें श्रद्धा-विश्वास बढ़कर बालकोंका स्वाभाविक ही उत्थान हो सकता है तथा बालक आदर्श बन सकते हैं। बालकोंकी उन्नतिसे ही कुटुम्ब, जाति, देश और राष्ट्र तथा भावी संतानकी उन्नति हो सकती है। अतः बालकोंके शिक्षण और चरित्रपर अभिभावकोंको विशेष ध्यान देना चाहिये।

वर्तमान शिक्षा-संस्थाओंमें बालकोंको ईश्वर-भक्ति और धर्म-पालनकी शिक्षाका देना तो दूर रहा, इनका बुरी तरहसे विरोध किया जाता है। ईश्वर और धर्मका मजाक उड़ाया जाता है और कहा जाता है कि धर्म ही हमारे पतन और अवनतिका हेतु है एवं बालकोंमें इस प्रकारके मिथ्या सिद्धान्त भरे जाते हैं कि 'आर्यलोग बाहरसे भारतमें आये हैं, चार-पाँच हजार वर्षोंसे पूर्वका कोई इतिहास नहीं मिलता तथा जगत् उत्तरोत्तर उन्नत हो रहा है।' इन भावोंसे धर्म और ईश्वरके प्रति अनास्था होकर उनका घोर पतन हो रहा है। इसलिये उनको धर्मका ज्ञान होना असम्भव-सा होता जा रहा है। आजकलकी प्रणालीके अनुसार बच्चा जब छः-सात वर्षका होता है तभी हम उसे पढ़नेके लिये

स्कूलमें भेज देते हैं, वहाँ धर्मज्ञानसे रहित अपरिपक्व-मति तथा कॉलेजोंसे निकले हुए प्रायः प्राचीनताके विरोधी नये अध्यापकोंके साथ उच्छृंखल वातावरणमें रहकर जब वह करीब सोलह वर्षका होता है तो उसे कॉलेजमें भेज देते हैं। वह बीस वर्षकी आयुतक कठिनतासे बी० ए० पास कर पाता है, परंतु जब वह इण्टर या बी० ए० पास होकर घर आता है, तब अपने माँ-बापको मूर्ख समझने लगता है और हमारी बची-खुची भारतीय संस्कृतिके पुराने संस्कारोंको देखकर हँसी-मजाक उड़ाता है; क्योंकि समय और श्रद्धाके अभावके कारण ऋषि-मुनियोंकी भारतीय संस्कृतिसे युक्त ग्रन्थ उसके सम्मुख नहीं आते, इसलिये वह इन सबसे अनभिज्ञ रहता है। ऐसी परिस्थितिमें हमारे बालक हमारे प्राचीन अनुभवी ऋषि-मुनियोंकी आर्य-संस्कृतिके लाभसे वंचित नहीं रहेंगे तो और क्या होगा?

शिशु-कक्षासे लेकर विश्वविद्यालयोंकी उच्च कक्षाओंतकके विद्यार्थी आज धर्म-ज्ञानशून्य पाये जाते हैं, यह इसी वर्तमान शिक्षाका दुष्परिणाम है। यहाँतक कि उनमें भारतीय शिष्टाचारका भी अभाव होता चला जा रहा है, यह बड़े ही खेदकी बात है।

प्राचीन भारतीय शिष्टाचार या धर्मके सेवनसे लाभ

प्राचीन भारतीय शिष्टाचारका—जिसको हम आर्य-संस्कृति या भारतीय संस्कृति कह सकते हैं, पालन करनेसे हमारा इस लोक और परलोक दोनोंमें ही कल्याण हो सकता है। इसीका नाम धर्म है। शास्त्रने बतलाया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन सू० २)

'जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है।'

अतः जिस प्रकार राजा युधिष्ठिरने भारी-से-भारी विपत्ति पड़नेपर भी धर्मका त्याग नहीं किया, उसी प्रकार हमें भी धर्मका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। महाभारतमें कहा है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गारोहण० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय न कामसे, न भयसे, न लोभसे और न जीवन-रक्षाके लिये ही धर्मका त्याग करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और इस जीवनका हेतु अनित्य है।'

धर्म ही मनुष्यका जीवन-प्राण है और इस लोक तथा परलोकमें कल्याण करनेवाला है। परलोकमें तो केवल एक धर्म ही साथ जाता है; स्त्री, पुत्र और सम्बन्धी आदि कोई भी वहाँ साथ नहीं जा सकते। अतएव अपने कल्याणके लिये मनुष्यमात्रको नित्य-निरन्तर धर्मका संचय करना चाहिये। उक्त धर्मकी प्राप्ति धर्मके ज्ञाता महापुरुषोंके संगसे और उनकी अनुपस्थितिमें सत्-शास्त्रोंके अनुशीलनसे होती है।

त्यागपूर्वक धर्मके पालनसे उसका दूसरे लोगोंपर भी बहुत अच्छा असर होता है। उसके प्रभावसे पापी पुरुष भी धर्मात्मा बन जाते हैं। राजा युधिष्ठिरका इतना भारी प्रभाव था कि वे जिस देशमें वास करते थे, उस देशमें धर्मका प्रसार, धन-धान्यकी वृद्धि और दुर्भिक्ष, महामारी आदिकी स्वतः निवृत्ति हो जाया करती थी। महाराज युधिष्ठिरका यह प्रभाव विस्तारसे देखना चाहें तो महाभारतके विराटपर्वका २८वाँ अध्याय देखना चाहिये।

जो दूसरोंके साथ त्यागपूर्वक व्यवहार करता है, उसके साथ दूसरोंको भी त्यागपूर्वक व्यवहार करना पड़ता है। हमारी जो प्राचीन त्यागपूर्ण धार्मिक शिक्षा है, उससे हमारे आत्माका कल्याण तो होता ही है, इस लोकमें भी सब प्रकारसे लाभ-ही-लाभ होता है; परंतु यदि लौकिक लाभ न भी होता हो और यहाँके स्वार्थकी हानि भी होती हो पर उससे यदि हमारा परमार्थ सिद्ध हो जाता हो तो हमारे लिये यह महान् लाभकी बात है। सर्वस्व जाकर भी परमार्थ सिद्ध होता हो तो बिना विचारे सर्वस्वका त्याग कर देना उचित है; क्योंकि मनुष्य-जीवनका उद्देश्य आत्माका कल्याण है—सांसारिक भोग भोगना नहीं। आत्माका कल्याण या भगवत्प्राप्ति ही धर्म-पालनका अन्तिम फल है। अतएव हमारे बालकोंमें भगवत्प्राप्तिके हेतु इस धर्मके पालनके लिये प्रारम्भसे ही ऐसे भाव भरे जाने चाहिये। प्राचीन ऋषि-आश्रमोंमें यही हुआ करता था।

उपर्युक्त धर्मको दृष्टिमें रखकर बालकोंके लिये अब यहाँ कुछ विशेष उपयोगी बातें लिखी जा रही हैं। मनुष्यको चाहिये कि आलस्य, प्रमाद, भोग, दुर्व्यसन, दुर्गुण और दुराचारोंको विषके समान समझकर उनको त्याग दे एवं सद्‌गुण-सदाचारका सेवन, विद्याका अभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, माता-पिता और गुरुजनोंकी एवं दुःखी अनाथ प्राणियोंकी कर्तव्य समझकर निःस्वार्थभावसे सेवा तथा ईश्वरकी भक्तिको अमृतके समान समझकर उसका श्रद्धापूर्वक सेवन करे। यदि इनमेंसे एकका भी निष्कामभावसे पालन किया जाय तो कल्याण हो सकता है, फिर सबका पालन करनेसे तो कल्याण होनेमें संदेह ही क्या है।

छः घंटेसे अधिक सोना, दिनमें सोना, असमयमें सोना, काम करते या साधन करते समय नींद लेना, काममें असावधानी

करना, अल्प कालमें हो सकनेवाले काममें अधिक समय लगा देना, आवश्यक कामके आरम्भमें भी विलम्ब करना तथा अकर्मण्यताको अपनाना आदि सब 'आलस्य' के अन्तर्गत हैं।

मन, वाणी और शरीरके द्वारा न करनेयोग्य व्यर्थ चेष्टा करना, करनेयोग्य कार्यकी अवहेलना करना—'प्रमाद' है।

ऐश-आराम, स्वाद-शौक, फैशन-विलासिता, विषयोंका सेवन, इत्र-फुलेल, सेंट-पाउडर आदिका लगाना, शृंगार करना, नाच-सिनेमा आदिका देखना, विलास तथा प्रमादोत्पादक क्लबोंमें जाना आदि सब 'भोग' हैं।

बीड़ी, सिगरेट, गाँजा, भाँग, चरस, कोकिन, अफीम, आसव आदि मादक वस्तुओंका सेवन, चौपड़-ताश-शतरंज खेलना आदि सब 'दुर्व्यसन' हैं।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, अभिमान, अहंकार, मद, ईर्ष्या आदि 'दुर्गुण' हैं।

हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, मांसभक्षण, मदिरापान, अंडे खाना, जूठन खाना, जुआ खेलना आदि 'दुराचार' हैं।

संयम, क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, संतोष, ज्ञान, वैराग्य, निष्कामता आदि 'सद्‌गुण' हैं।

यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत और सेवा-पूजा करना तथा अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्यका पालन करना आदि 'सदाचार' हैं।

इनके अतिरिक्त विद्याका अभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, माता-पिता और गुरुजनोंकी सेवा तथा ईश्वरकी भक्ति—ये सभी परम आवश्यक और कल्याणकारी हैं।

इसलिये बालकों और नवयुवकोंसे हमारा निवेदन है कि वे निष्कामभावसे उपर्युक्त साधनोंद्वारा अपने जीवनके स्तर (स्टैंडर्ड)-को ऊँचा उठावें, उसका पतन न होने दें। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

(६।५-६)

'अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले। क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है।'

इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जो मनुष्य अपने मन-इन्द्रियोंको जीत लेता है, वह स्वयं ही अपना मित्र है और जो नहीं जीतता वह स्वयं ही अपना शत्रु है; क्योंकि मन-इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेवाला पुरुष ही विषयोंसे मन-इन्द्रियोंको रोककर दुर्गुण-दुराचारका त्याग और सद्‌गुण-सदाचारका सेवन करके आत्मकल्याण कर सकता है।

जिस आचरणको श्रुति और स्मृति उत्तम बतलाती है तथा अच्छे पुरुष जिसका आचरण करते हैं एवं हमारी आत्मा भी यह स्वीकार कर लेती है कि ये आचरण अच्छे हैं, वही 'धर्म' है। श्रीमनुजीने कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

(२।१२)

'श्रेष्ठ पुरुष वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्माकी

रुचिके अनुसार परिणाममें हितकर—यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण कहते हैं।'

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥

(२।९)

'जो मनुष्य वेद और स्मृतिमें कहे हुए धर्मका पालन करता है, वह निःसन्देह इस संसारमें कीर्तिको और मरनेपर परमात्माकी प्राप्तिरूप सर्वोत्तम सुखको पाता है।'

अतः युवकोंसे हमारा निवेदन है कि वर्तमानमें जो हमारा बहुत ही नैतिक पतन हो रहा है, इनसे बचकर अपनी आत्माको उठावें तथा इस लोक और परलोकमें हमारा परम कल्याण हो, वही आचरण करें एवं सच्चे हृदयसे लगनके साथ सभी ओरसे ऐसा प्रयत्न करें, जिसमें अपनी भौतिक और बौद्धिक, व्यावहारिक और सामाजिक, नैतिक और धार्मिक तथा आध्यात्मिक या पारमार्थिक उन्नति हो, मानव-जीवन सफल हो, यहाँ अभ्युदयको प्राप्त करें और अन्तमें मुक्तिकी प्राप्ति हो।

भौतिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नतिके स्वरूप और उनका फल

जिससे शरीर नीरोग रहे तथा संसारमें धन, धान्य और शिल्पविद्या आदिकी उन्नति हो, यह 'भौतिक उन्नति' है। भाव यह कि आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पाँच भूतोंके कार्यरूप पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उन्नतिको भौतिक उन्नति कहते हैं; किन्तु यह भौतिक उन्नति जब निष्कामभावसे अहिंसा, सत्य और समस्त प्राणियोंके हितकी दृष्टिसे की जाती है, तभी

कल्याणकारक होती है; इसके विपरीत 'अणुबम' आदिमें जनताका संहार करनेवाली भौतिक उन्नति तो भयानक और पतनकारक ही है।

जिससे हमारा लौकिक और पारलौकिक ज्ञान बढ़े, सद्‌गुण और सद्भावकी वृद्धि हो, अनेक प्रकारकी भाषा, लिपि और श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणादि शास्त्रोंका तथा व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, कल्प, निरुक्त, शिक्षा, गणित, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, निधिविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, संगीत, ललितकला आदि विद्याओंका ज्ञान हो एवं हमारी बुद्धि सूक्ष्म, तीक्ष्ण, शुद्ध और स्थिर हो, उसका नाम 'बौद्धिक उन्नति' है; किंतु यह बौद्धिक उन्नति राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित, क्षमा, दया, उदारता, ज्ञान, विवेक, वैराग्य, भक्ति आदि गुणोंसे युक्त होनेपर इस लोक और परलोकमें कल्याणकारक होती है। इससे विपरीत संसारके संहार करनेमें संलग्न बुद्धि तो हानि और पतन करनेवाली ही है।

कुशलतापूर्वक देश और विदेशमें व्यवसायबुद्धिसे पदार्थोंका उत्पादन, निर्माण, आदान-प्रदान और क्रय-विक्रय तथा कला-कौशलकी उन्नति और वृद्धि करना आदि एवं प्रत्येक व्यक्तिके साथ कुशलता और सभ्यतापूर्वक बर्ताव करना आदि 'व्यावहारिक उन्नति' है। यह व्यावहारिक उन्नति झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी और स्वार्थरहित तथा सत्य, समता, संतोष, संयम आदि गुणोंसे युक्त होनेपर मुक्ति देनेवाली है और इससे विपरीत आजकलके व्यापारकी तरह अन्यायपूर्ण होनेपर देश और राष्ट्रके लिये हानिकारक तथा आत्माका पतन करनेवाली है।

वर्तमानमें जाति और समाजमें फैली हुई दहेज लेने आदिकी कुरीतियाँ तथा विवाह और अन्यान्य अवसरोंपर धनका अतिशय व्यर्थ खर्च करने आदिकी फिजूलखर्चीको खतरनाक समझकर

उनका सुधार करना तथा देश, जाति और समाजका उत्थान और हित करना—यह 'सामाजिक उन्नति' है।

रेल-यात्राके समय जगह रहते हुए भी अपने डिब्बेमें दूसरेको नहीं घुसने देना, द्वितीय श्रेणीका टिकट लेकर प्रथम श्रेणीमें बैठ जाना अथवा प्रथम श्रेणीका टिकट लेकर वातानुकूल डिब्बेमें सवार होना, टिकटके अनुसार नियत किये हुए परिमाणसे अधिक बोझ बिना किराया चुकाये ही ले जाना, न्यायाधीश या पंच बनकर पक्षपात करना, व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी करना और झूठे बही-खाते बनाना, सरकार और रेलवेकी उनके कर्मचारियोंसे मिलकर चोरी करना, रिश्वत आदि लेकर चोरी तथा अनैतिकतामें सहायता करना आदि सब 'नैतिक पतन' हैं। उपर्युक्त दोषोंको छोड़कर सबके साथ पक्षपातरहित, न्याय और समतायुक्त लोभरहित यथायोग्य व्यवहार करना—यह 'नैतिक उन्नति' है। उपर्युक्त सामाजिक तथा नैतिक बातोंका पालन यदि मान-बड़ाई आदिके लिये किया जाय तो मान-बड़ाई मिलती है और यदि कर्तव्य-बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक किया जाय तो परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, मद्यपान, मांस-अंडा-भक्षण, द्यूत और हिंसा आदि शास्त्रनिषिद्ध दोषोंसे रहित होकर यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा, तीर्थ, व्रत, परोपकार, शौचाचार, सदाचार आदि शास्त्रानुकूल धर्मका श्रद्धापूर्वक पालन करना 'धार्मिक उन्नति' है। यह धार्मिक उन्नति यदि निष्कामभावसे या भगवत्प्रीत्यर्थ अथवा भगवत्प्राप्त्यर्थ हो तो इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाली है तथा यदि सकामभावसे की जाय तो इस लोक और परलोकको कामनाकी पूर्ति करनेवाली है।

आत्मा और परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेके लिये सत्संग और स्वाध्याय करना, विवेक-वैराग्यपूर्वक संसारके विषयभोगोंसे मन

और इन्द्रियोंका संयम करना, निष्कामभावसे शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करना, श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान करना, सख्य, दास्य आदि भावोंसे भगवान्‌की उपासना करना, भगवान्‌की पूजा करना, उनको नमस्कार करना, उनकी स्तुति-प्रार्थना करना, कथा-कीर्तन करना, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिरूप अष्टांगयोगके द्वारा तथा अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मको यथार्थरूपमें जाननेका साधन करना आदि सब 'आध्यात्मिक उन्नति' के हेतु हैं। अतः इन साधनोंमेंसे कोई-सा भी साधन परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे करना 'आध्यात्मिक उन्नति' है।

उन्नतिके साधन

अब बालकोंकी सब प्रकारसे अधिक-से-अधिक उन्नति किस प्रकार हो, इस विषयमें कुछ विचार करना है। जो अवस्थामें बालक हैं, वे तो बालक हैं ही; किंतु जिनके माता-पितादि अभी जीवित हैं, उनकी आयु अधिक होनेपर भी माता-पिताके सम्मुख तो वे भी बालकके ही समान हैं तथा जिन्हें कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान नहीं है, वे भी बालकके ही समान हैं। पहले यहाँ यह विचार करते हैं कि बालकोंको अपनी दिनचर्या कैसी बनानी चाहिये।

कम-से-कम सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व उठना और उठते ही भगवान्‌के नाम-रूपका स्मरण तथा उनको नमस्कार करना चाहिये। फिर—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'आप ही माता और आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु और आप ही मित्र हैं,आप ही विद्या और आप ही धन हैं। हे देवोंके भी देव! मेरे तो सब कुछ आप ही हैं।'

इस प्रकार स्तुति करके भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्य-भक्ति हो तथा भगवान्‌के नाम और स्वरूपकी स्मृति नित्य-निरन्तर बनी रहे, इसके लिये भगवान्‌से हृदय खोलकर प्रार्थना करनी चाहिये। इसके बाद पृथ्वी-माताको नमस्कार करके शास्त्रविधिके अनुसार शौच-स्नान करना चाहिये।

मलत्याग करके तीन बार मृत्तिका और जलसे गुदा धोवे, फिर जबतक दुर्गन्ध और चिकनाई रहे, तबतक केवल जलसे धोवे। मल या मूत्रका त्याग करनेके बाद उपस्थको भी जलसे धोवे। मलत्यागके बाद मृत्तिका और जलसे दस बार बायें हाथको और सात बार दोनों हाथको मिलाकर धोना चाहिये। मृत्तिका और जलसे पात्रको तीन बार धोना चाहिये। हाथ और पैर धोनेके अनन्तर मुखके सारे छिद्रोंको धोकर दातुन करके कम-से-कम बारह कुल्ले करने चाहिये। फिर स्नान करना चाहिये।

तदनन्तर यदि यज्ञोपवीतधारी हो तो उसे संध्योपासन, गायत्री-जप, वेदाध्ययन, तर्पण, पूजा, होम आदि विधिपूर्वक करने चाहिये। मनुजीने कहा है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥

(२। १७५)

'ब्रह्मचारी बालकको चाहिये कि नित्य स्नान करके शुद्ध हो देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण तथा देवताओंका पूजन और समिधाओंद्वारा प्रज्वलित अग्निमें होम अवश्य करे।'

कम-से-कम प्रातःकाल और सायंकाल विधिपूर्वक संध्योपासन

और गायत्री-जप तो हरेक यज्ञोपवीतधारी बालकको अवश्य करना ही चाहिये। मनुजीने कहा है—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

(२।१०३)

'जो मनुष्य न तो प्रातःसंध्योपासन करता है और न सायंसंध्योपासन करता है, वह शूद्रके समान सम्पूर्ण द्विजकर्मोंसे अलग कर देनेके योग्य है।'

शौच-स्नानसे पवित्र होकर ही संध्योपासन और गायत्री-जप करना चाहिये, क्योंकि पवित्र होकर किया हुआ गायत्री-जप ही अधिक लाभदायक होता है। शास्त्रोंमें गायत्री-जपकी बड़ी भारी महिमा आती है—

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
संध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥

(२।७८)

'इस (ॐ) अक्षर और इन व्याहृतियोंके सहित गायत्रीको दोनों संध्याओंमें जपता हुआ वेदज्ञ ब्राह्मण वेद-पाठके पुण्य-फलका भागी होता है।'

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥

(५।७९)

'द्विज इन तीनोंका यानी प्रणव, व्याहृति और गायत्रीका बाहर (पवित्र और एकान्त स्थानमें) सहस्र बार जप करके एक मासमें बड़े भारी पापसे भी वैसे ही छूट जाता है; जैसे साँप केंचुलीसे।'

इसलिये हमलोगोंको एकान्त और पवित्र देशमें आलस्यरहित होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अर्थ और भावको समझते हुए गायत्रीका

जप अधिक-से-अधिक करना चाहिये। यदि हम प्रतिदिन एक हजार गायत्री-मन्त्रका जप आलस्यरहित होकर तीन वर्षतक, श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे करें तो सब पापोंका नाश होकर हमारा निश्चय ही कल्याण हो सकता है। श्रीमनुजी कहते हैं—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥

(२।८२)

'जो मनुष्य आलस्य छोड़कर प्रतिदिन तीन वर्षोंतक प्रणव और व्याहृतिसहित गायत्रीका जप करता है, वह मरनेपर क्रमशः वायुरूप और आकाशरूप होकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

इसलिये पवित्र होकर नित्य निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक परमात्माकी प्राप्तिके लिये अधिक-से-अधिक गायत्री-जप करना चाहिये। अधिक न हो तो कम-से-कम प्रतिदिन एक हजार गायत्रीका जप तो अवश्य करना चाहिये। प्रातःकाल खड़े होकर और सायंकाल बैठकर जप करना उत्तम है अथवा दोनों समय बैठकर ही कर सकते हैं; किंतु चलते-फिरते नहीं। बीमार हों तो बिना स्नान किये भी हाथ-मुँह और पैर धोकर वस्त्र बदलकर मानसिक संध्या और गायत्री-जप कर सकते हैं। रेल, मोटर, वायुयान आदिमें यात्रा करते समय भी बिना स्नान किये भी मानसिक संध्या और गायत्री-जप आदि ठीक समयपर अवश्य करना चाहिये तथा गन्तव्य स्थानपर पहुँच जानेपर शौच-स्नानादिसे निवृत्त हो पुनः विधिपूर्वक करना चाहिये। प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व और सायंकाल सूर्यास्तसे पूर्व करना सर्वोत्तम है। कहीं आपत्तिकालमें समयका उल्लंघन हो जाय तो भी कर्मका उल्लंघन तो कभी होना ही नहीं चाहिये। अपने दैनिक नित्यकर्मका त्याग तो कभी किसी अवस्थामें करना ही नहीं चाहिये। मनुस्मृतिमें कहा है—

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम्। (२।१०६)

'नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं है; क्योंकि उसे ब्रह्मयज्ञ कहा है।' अतएव स्नान, संध्या, गायत्री-जप, तर्पण, पूजा, हवन, स्वाध्याय आदि नित्यकर्म कभी किसी अवस्थामें भी नहीं छोड़ना चाहिये। जन्म और मृत्युका अशौच होनेपर मानसिक कर लेना चाहिये। बीमारी और संकट-अवस्थामें स्नान न करनेके कारण अपवित्र होनेपर भी उपर्युक्त नित्यकर्म भगवान्‌का स्मरण करके मानसिक कर सकते हैं; क्योंकि भगवान्‌का स्मरण करनेसे मनुष्य बाहर-भीतरसे पवित्र हो जाता है। पद्मपुराणमें कहा है—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

(पाताल० ८०।११)

'मनुष्य अपवित्र हो या पवित्र अथवा शुद्ध-अशुद्ध किसी भी अवस्थामें क्यों न पहुँच गया हो, जो कमलनयन भगवान्‌का स्मरण करता है, वह बाहर-भीतरसे पवित्र हो जाता है।'

यदि किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके बालकके यज्ञोपवीत नहीं है तो उसे यज्ञोपवीत-संस्कार अवश्य ही करा लेना चाहिये; क्योंकि यज्ञोपवीतके बिना संध्या, गायत्री, वेद और होम आदिमें अधिकार नहीं होता। यज्ञोपवीतका काल मनुजीने इस प्रकार बतलाया है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात् तु द्वादशे विशः॥

(मनु० २।३६)

'ब्राह्मणका उपनयन (जनेऊ) गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रियका गर्भसे ग्यारहवें और वैश्यका गर्भसे बारहवें वर्षमें करना चाहिये।'

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

(२।३७)

'ब्रह्मतेजकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मणका पाँचवें वर्षमें, बल चाहनेवाले क्षत्रियका छठेमें और धन चाहनेवाले वैश्यका आठवें वर्षमें यज्ञोपवीत करना चाहिये।'

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्द्वाविंशत् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः॥

(मनु० २।३८)

'सोलह वर्षतक ब्राह्मणके लिये; बाईस वर्षतक क्षत्रियके लिये और चौबीस वर्षतक वैश्यके लिये सावित्रीके कालका अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् इस अवस्थातक उनका उपनयन (जनेऊ) हो सकता है।'

इसके बाद 'व्रात्य' संज्ञा हो जाती है; किंतु 'व्रात्य' संज्ञा होनेपर भी प्रायश्चित्त कराकर कोई सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण यज्ञोपवीत दिला दें तो ले सकते हैं।

जो स्त्री-शूद्र आदि यज्ञोपवीतके अधिकारी नहीं हैं तथा अधिकारी होनेपर भी जिनका यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं हुआ है, उन लोगोंको भी अपने इष्टदेव भगवान्‌का पूजन, नमस्कार, स्तुति-प्रार्थना, पाठ, भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान, गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंका स्वाध्यायरूप नित्यकर्म और कथा-कीर्तन आत्मकल्याणके लिये अवश्य ही करना चाहिये। उनका संध्या, गायत्री, होम और वेदाध्ययनमें अधिकार न होनेके कारण उन्हें हठ करके इन्हें नहीं करना चाहिये। जो वर्णाश्रम-धर्मसे रहित हैं, उन लोगोंकी भी आध्यात्मिक उन्नति और उसके फलस्वरूप भगवत्प्राप्ति निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌के पूजन-नमस्कार, स्तुति-

प्रार्थना, कथा-कीर्तन, जप-ध्यान आदिरूप भक्ति करनेपर हो सकती है।

ऐसा माना जाता है कि एक मिनटमें पंद्रह श्वासके हिसाबसे दिन-रातमें प्रायः २१,६०० श्वास आते हैं; इसलिये प्रतिदिन कम-से-कम इक्कीस हजार छः सौ भगवन्नामोंका जप तो अवश्य होना ही चाहिये। इस दृष्टिसे यदि—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस षोडश मन्त्रकी १४ माला प्रतिदिन जपी जाय तो २४,१९२ नामोंका जप हो जाता है। अतः जिनको यह साधन लाभदायक और उचित प्रतीत हो, वे कम-से-कम १४ मालाका तो जप अवश्य ही करें। इस प्रकारका जप यदि भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान रखते हुए या मन्त्रके अर्थको समझते हुए; अक्षरोंका ध्यान रखते हुए किया जाय तो और भी उत्तम है। ऐसा जप श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर गुप्त किया जाय, उसके लाभका तो कहना ही क्या है। उससे तो बहुत ही शीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सकती है। श्रीभगवन्नामजपकी महिमा शास्त्रोंमें सब प्रकारके यज्ञोंसे बढ़कर बतलायी गयी है। श्रीमनुस्मृतिमें कहा है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(२। ८५)

'विधियज्ञ यानी श्रौत-स्मार्त यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना बढ़कर है और दूसरे मनुष्यको सुनायी न दे—इस तरह उच्चारण करके किया जानेवाला उपांशु जप (विधियज्ञसे) सौगुना और मानसजप (विधियज्ञसे) हजारगुना बढ़कर माना गया है अर्थात् एक-से-एक दसगुना श्रेष्ठ है।'

•

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

(२।८६)

'जो विधियज्ञ यानी श्रौत-स्मार्त यज्ञसहित चार पाकयज्ञ (वैश्वदेव, श्राद्ध, बलिकर्म और अतिथि तथा ब्राह्मणको भोजन कराना) हैं, वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं।'

इसके अतिरिक्त निर्गुण-निराकार अथवा सगुण-साकार भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि किसी भी इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रातःकाल और सायंकाल कम-से-कम एक घंटा या आधा घंटा यथाशक्ति अवश्य करे। श्रीमद्भगवद्गीताके कम-से-कम एक अध्यायका अर्थसहित या अर्थ और भावपर लक्ष्य रखते हुए पाठ करे तथा श्रीतुलसीदासजीके रामायणके चार दोहों (चौपाई, छन्द आदिसहित)-का अर्थपर ध्यान रखते हुए पाठ करे एवं इष्टदेवके स्तोत्रोंका पाठ करे।

प्रतिदिन भगवान्‌की मूर्ति या चित्रपटकी षोडशोपचारसे पूजा करे अथवा मनसे अपने इष्टदेवके स्वरूपको अपने हृदयके भीतर या बाहर आकाशमें स्थित करके उनकी पूजा और नमस्कार करे तथा इष्टदेवकी स्तुति-प्रार्थना करे।

इस प्रकार नित्य-कर्म करनेके पश्चात् अपने घरमें माता-पिताको तथा जो अवस्था, ज्ञान या पदमें अपनेसे बड़े हों उनको एवं आचार्य, अध्यापक और शिक्षकको प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये। नित्य प्रणाम करनेका लाभ बतलाते हुए मनुजी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥

(मनु० २। १२१)

'जो नित्य प्रणाम करनेके स्वभाववाला और वृद्धोंकी सेवा

करनेवाला है, उसके आयु, विद्या, यश और बल—ये चार बढ़ते हैं।'

तदनन्तर आसन, व्यायाम आदि करके अपने अभ्यासके अनुसार दुग्धपान करना चाहिये अथवा रात्रिमें भिगोये हुए चनोंका सेवन भी दुग्धपानके समान ही है। इसके बाद विद्याका अभ्यास करना चाहिये। फिर पवित्र, सात्त्विक, उचित और हलका भोजन करना चाहिये। आचमन करके ही भोजन करे तथा भोजनके अन्तमें भी आचमन करे। श्रीमनुजी कहते हैं—

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात् समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत् सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत्॥

(मनु० २। ५३)

'द्विजको चाहिये कि नित्य आचमन करके सावधान हुआ अन्नका भोजन करे तथा भोजनके पश्चात् भी भलीभाँति आचमन करे एवं छः छिद्रोंका अर्थात् नाक, कान, नेत्रका जलसे स्पर्श करे।'

राजसी, तामसी, भारी और क्षुधासे अधिक मात्रामें भोजन नहीं करना चाहिये; क्योंकि अधिक भोजन करनेसे आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाश होता है। श्रीमनुजी कहते हैं—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥

(२। ५७)

'अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाशक और लोक-निन्दित है, इसलिये उसे त्याग दे।'

न्यायसे प्राप्त द्रव्यसे खरीदे हुए तथा शास्त्रानुकूल शुद्धतासे बनाये हुए खाद्य पदार्थ पवित्र हैं। सात्त्विक भोजनके लक्षण गीतामें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
(१७। ८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

घी-दूध, फल, शाक, अन्न, मेवा और चीनी आदि पदार्थ शुद्ध भी हैं और सात्त्विक भी हैं, इसलिये इन पदार्थोंका ही भोजन करना चाहिये, किंतु घी, चीनी, मावा, मैदा और बेसन (चनेके आटे)-की मिठाई भारी होनेसे गरिष्ठ और स्वादु होनेसे राजसी हो जाती है। इसलिये दूध, फल, मूँगकी दाल, चावल, खिचड़ी, रोटी, पूड़ी, फुलका, साग आदि सादा भोजन करना चाहिये।

उचित भोजनसे अभिप्राय है क्षुधासे न अधिक हो और न कम; हलके-से मतलब है—भोजन बहुत देरमें पचनेवाला न होकर हलका यानी अल्पकालमें ही पचनेवाला हो। तामसी भोजन तो कभी नहीं करना चाहिये। मधु, मांस, सोडावाटर, कोकाकोला, बर्फ, बिस्कुट, डॉक्टरी दवा, आइसक्रीम, आसव, अरिष्ट, लहसुन, प्याज, बाजारकी मिठाई आदि तथा होटलकी अपवित्र चीजें और एक-दूसरेका खाया हुआ जूठा तथा रातमें बनाकर रखी हुई बासी रोटी आदि तामसी भोजन हैं। प्रायः सोडावाटर और बर्फ आदि उच्छिष्ट होनेसे, आसव-अरिष्ट मादक होनेसे, मधु और बाजारकी मिठाई अपवित्र होनेसे और चाहे जिसके स्पर्शसे दूषित होनेसे तथा बढ़िया बिस्कुट आदिमें मुर्गीके अंडे और डॉक्टरी औषधमें मद्य, मांस आदिका मिश्रण होनेसे, होटलके पदार्थोंमें मद्य-मांसादिका संसर्ग होनेसे तथा लहसुन-प्याजमें दुर्गन्ध होनेसे—ये सभी सर्वथा त्याज्य हैं। मनुजीने भी कहा है—

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥

(२।१७७)

'शहद, मांस, सुगन्धित वस्तु, फूलोंके हार, रस, स्त्री, सिरकेकी भाँति बनी हुई समस्त मादक वस्तुएँ और प्राणियोंकी हिंसा—इन सभीको त्याग दे।'

राजसी-तामसी भोजनके लक्षण गीतामें इस प्रकार बताये हैं—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(१७।९-१०)

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषोंको प्रिय होते हैं। जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट (जूठा) है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।'

भोजन करनेके बाद कम-से-कम आधे घंटेतक सोना नहीं चाहिये, रास्ता नहीं चलना चाहिये, विद्याभ्यास भी नहीं करना चाहिये, विशेष परिश्रम और स्नान भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि दिनमें सोनेसे वृत्ति भारी और तामसी होती है और भोजनके बाद तुरंत ही चलने, पढ़ने, परिश्रम या स्नान करनेसे भोजन हजम नहीं होता, बल्कि विकृत होकर स्वास्थ्यकी हानि करता है। इसलिये उस समय आमोद-प्रमोदके लिये अपने सहपाठियोंके साथ विनोदपूर्वक सात्त्विक वार्तालाप या पाठ्यविषयकी चर्चा करनी चाहिये। फिर आधे या एक घंटे बाद पढ़ाई शुरू कर देनी चाहिये। पढ़ाई समाप्त

करनेके बाद कसरत, कुश्ती, कवायद, देशी-विदेशी खेल, दौड़-धूप आदि व्यायाम करना चाहिये। तदनन्तर सायंकालमें शौच-स्नान करके संध्या-गायत्री, पूजा-पाठ तथा हवन आदि नित्यकर्म श्रद्धा, भक्ति और आदरपूर्वक निष्कामभावसे करने चाहिये।

नित्यकर्म करते समय उसकी विधि, अर्थ और भावकी ओर विशेष लक्ष्य रखना चाहिये। सायंकालके बाद शास्त्रविधिके अनुसार सात्त्विक, पवित्र और हलका भोजन करना चाहिये तथा आधा घंटा सात्त्विक चर्चामें समय बिताकर रातको ९ बजेतक पढ़ी हुई विद्याका अनुशीलन करना चाहिये। बालकोंके लिये रात्रिमें ९ से ४ बजेतक सात घंटे शयन करना उचित है। शयन करनेके समय संसारी संकल्पोंके प्रवाहको भुलाकर भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और चरित्रका चिन्तन करते हुए ही शयन करना चाहिये, जिससे कि रात्रिका शयनकाल भी पारमार्थिक विषयमें ही बीते।

उपर्युक्त दिनचर्या विद्यार्थियोंके लिये बहुत ही उत्तम है। इन सब नियमोंका पालन ऋषिकुल, गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम, पाठशाला, स्कूल, कॉलेज, छात्रावास आदिमें तथा घरपर रहकर भी किया जा सकता है। ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए घरमें रहे तो भी वह बालक ब्रह्मचारी ही है।

अब सभी बालकोंके लिये विशेष कर्तव्य बतलाये जाते हैं—

बालकोंको चौपड़-ताश आदि खेलने, थियेटर-सिनेमा आदिके देखनेमें अपने मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय व्यय नहीं करना चाहिये। इसमें समय व्यर्थ जाता है, इतनी ही बात नहीं, अपना स्वभाव खराब होता है, जिससे अपना भविष्य नष्ट हो जाता है। थियेटर-सिनेमाके देखनेसे शरीरकी तथा नेत्रोंकी ज्योतिकी हानि और पैसोंका व्यर्थ खर्च तो है ही, अश्लील दृश्य देखनेसे वीर्यकी

हानि भी होती है, जो कि ब्रह्मचारीके लिये कलंक है और जिससे बल, बुद्धि, तेज, ज्ञान और स्वास्थ्यकी भी हानि होती है।

बालकोंको ऐश-आराम, स्वाद-शौक, भोग-विलासका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि ये सब विद्याध्ययनमें बाधक तथा ब्रह्मचर्य-व्रतके पालनमें कलंक हैं। किसी भी इन्द्रियका अपने विषयके साथ जो रागपूर्वक संसर्ग है, वह सारे अनर्थोंका मूल है, अतएव सारे विषय-भोगोंको नाशवान्, क्षणभंगुर, दुःखरूप और घृणित समझकर त्याग देनेकी चेष्टा करनी चाहिये। श्रीमनुजीने कहा है—

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥

(२। ९३)

'मनुष्य इन्द्रियोंमें आसक्त होकर निःसंदेह दोषको प्राप्त होता है और उनको ही रोककर उस संयमसे सिद्धि प्राप्त कर लेता है।'

कुछ लोग तो यह समझते हैं कि हम विषयोंका उपभोग करके अपनी लालसा पूर्ण कर लेंगे, उनकी यह समझ ठीक नहीं है। श्रीमनुजी कहते हैं—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(२। ९४)

'नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती, बल्कि घृतसे अग्निके समान बार-बार अधिक ही बढ़ती जाती है।'

जैसे फतिंगे क्षणिक सुखके लोभसे दीपकके निकट जाते हैं और अन्तमें समाप्त हो जाते हैं, इसी तरह विषयोंके उपभोगसे मनुष्यको क्षणिक सुख मिलता है; किंतु अन्तमें उसका पतन हो

जाता है। इसलिये विवेक, विचार और हठसे चाहे जैसे भी हो, इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना ही चाहिये।

बालकोंको स्त्रियोंका संसर्ग, जुआ, गाली-गलौज, परस्पर लड़ाई-झगड़ा, अनुशासनहीनता, परनिन्दा, इत्र, तेल, फुलेल, पुष्पमाला, अंजन, बालोंका शृंगार, नाचना, गाना आदिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। मनुस्मृतिमें कहा है—

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥

(२। १७८-१७९)

(ब्रह्मचारी) विद्यार्थीको उबटन लगाना, आँखोंको आँजना, जूते और छत्र धारण करना एवं काम, क्रोध और लोभका आचरण करना तथा नाचना, गाना, बजाना एवं जुआ, गाली-गलौज और निन्दा आदिका करना तथा झूठ बोलना एवं स्त्रियोंको देखना, आलिंगन करना और दूसरेका तिरस्कार करना—इन सबका भी (सर्वथा) त्याग कर देना चाहिये।'

इसी प्रकार विद्यार्थी बीड़ी, सिगरेट, भाँग, तम्बाकू आदि मादक वस्तुओंका भी कभी सेवन न करे। ऊपर बतलाये हुए विषयोंके सेवनसे धन, चरित्र, आयु, बल, बुद्धि, आरोग्य तथा इस लोक और परलोककी हानि होती है, इसलिये इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

विद्यार्थी हिंसा, द्रोह, वैर, ईर्ष्या, झूठ, कपट, छल, छिद्र, चोरी, बेईमानी, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिका भी सर्वथा त्याग कर दे, क्योंकि इनसे इस लोकमें निन्दा होती है और उसका लोग विश्वास नहीं करते तथा मरनेपर परलोकमें दुर्गति होती है। दुराचार आदि दोषोंसे प्रत्यक्षमें ही मनुष्यका पतन हो जाता है।

मनुजीने कहा है—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥ (४।१५७)

'दुराचारी पुरुष सदा ही लोकमें निन्दित और दुःख भोगनेवाला तथा रोगी एवं अल्पायु भी होता है।'

दूसरा कोई गाली दे या निन्दा करे तो बदलेमें न तो गाली देनी चाहिये, न उसका अनिष्ट करना चाहिये, न उसकी निन्दा ही करनी चाहिये, क्योंकि जो हमारी सच्ची निन्दा करता है, वह तो हमारे गुणोंको ढककर हमें शिक्षा देता है, उससे हमें लाभ ही है कोई हानि नहीं और यदि कोई हमारी झूठी निन्दा करता है या गाली देता है तो उसके निन्दा करने या गाली देनेसे हमारी इस लोक या परलोकमें कहीं किंचित् भी हानि हो नहीं सकती, क्योंकि न्यायकारी भगवान्के यहाँ अंधेर नहीं है। इसलिये समझदार बालकको दुःख, चिन्ता, भय, उद्वेग कुछ भी नहीं करना चाहिये, बल्कि सहन करना चाहिये, जिससे क्षमा, तितिक्षा और आत्मबल बढ़कर अन्तमें परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार मान और अपमानके विषयमें समझना चाहिये। कल्याणकामी मनुष्यको चाहिये कि वह मानको विषके समान और अपमानको अमृतके समान समझे! मनुजी कहते हैं—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥

(२।१६२)

'ब्राह्मणको चाहिये कि सम्मानसे विषके समान नित्य डरता रहे (क्योंकि सम्मानसे अभिमानकी वृद्धि होती है और अभिमान बढ़नेसे बहुत हानि है) और अमृतके समान सदा अपमानकी इच्छा करता रहे अर्थात् तिरस्कार होनेपर खेद न करे।'

परेच्छा या अनिच्छासे कोई भी दुःख आकर प्राप्त हो, उसमें प्रसन्न ही होना चाहिये। उसमें दुःख, द्वेष और द्रोह नहीं करना चाहिये। मनुस्मृति कहती है—

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्या तामुदीरयेत्॥

(२।१६१)

'आर्त होनेपर भी दुःखी न हो और न दूसरेसे द्रोह करनेमें बुद्धि लगावे। जिस वाणीसे दूसरेको उद्वेग हो ऐसी लोकनिन्दित वाणी न बोले।'

कितने ही बालक परीक्षामें अनुत्तीर्ण (फेल) होनेके कारण तथा घरके कलहके कारण एवं देश-विदेशमें घूमनेकी इच्छासे और घरवालोंको तंग करनेके उद्देश्यसे मूर्खतावश घर छोड़कर भाग जाते हैं, इससे उन बालकोंको तो तकलीफ होती ही है, घरवालोंको भी बड़ी परेशानी उठानी पड़ती है, रुपये भी खर्च होते हैं। इसके सिवा बालकोंको घर लौटनेमें घरवालोंका संकोच तथा भय हो जानेसे घर लौटनेमें हिचकिचाहट हो जाती है, जिससे उन्हें भयानक परेशानी उठानी पड़ती है। यह उनकी बेसमझी है। इसलिये कहीं जाना हो तो घरवालोंकी आज्ञा लेकर ही जाना चाहिये। यदि आज्ञा लेकर न जाय तो कम-से-कम घरवालोंको सूचना तो अवश्य ही दे देनी चाहिये। कोई-कोई बेसमझ बालक तो परीक्षामें फेल हो जाने अथवा घरके कलह आदि दुःखोंके कारण आत्महत्या कर बैठते हैं, जिससे उनके लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं तथा मनुष्यका अमूल्य जीवन व्यर्थ चला जाता है। ऐसा करना महामूर्खता है। उनको विचार करना चाहिये कि जो दुःख इस समय है उससे बहुत अधिक दुःख विष खाने, जलमें डूबने, आगमें प्रवेश करने और फाँसी लगाकर मरनेमें होता है और मरनेके बाद परलोकमें तो इससे भी

भयानक अतिशय दुःख होता है। शुक्लयजुर्वेदके ४०वें अध्यायके तीसरे मन्त्रमें बतलाया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँ्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'असुरोंकी जो प्रसिद्ध नाना प्रकारकी योनियाँ एवं नरकरूप लोक हैं, वे सभी अज्ञान तथा अन्धकारसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माकी हत्या करनेवाले मनुष्य हैं, वे मरकर उन्हीं भयंकर लोकोंको बार-बार प्राप्त होते हैं।'

अतएव किसीको चाहे जितना भी दुःख हो, किसी भी हालतमें कभी भी आत्महत्या नहीं करनी चाहिये और न घरसे भागना ही चाहिये; बल्कि माता, पिता, गुरुजन और मित्रोंके स्वभाव, रुचि और परिस्थितिको समझकर सहनशील बनना चाहिये; क्योंकि मनके विपरीत कार्य उपस्थित होनेपर उसे सहन करनेसे आत्मबल तो बढ़ता ही है, इस लोकमें कीर्ति और परलोकमें उत्तम गति भी मिलती है।

बालकको चाहिये कि जो कार्य माता-पिता और गुरुजन बतलावें, उसे अवश्यमेव ही करना है—इस प्रकार कर्तव्य-बुद्धिसे उस कार्यको करनेका अपनेपर उत्तरदायित्व समझे और उसे भलीभाँति करे। जो अपने कर्तव्यके विषयमें अपना दायित्व नहीं समझता, अनुशासन नहीं मानता, उसकी इस लोक और परलोकमें इज्जत नहीं है और उसका कोई विश्वास भी नहीं करता, इसलिये उसका जीवन व्यर्थ है।

बालकोंको निष्कामभावसे कुटुम्ब, जाति और देशकी सेवा करनी चाहिये तथा हो सके तो तन, मन, धनसे प्राणिमात्रकी सेवा करनी चाहिये; किंतु दुःख तो किंचिन्मात्र भी कभी किसीको देना ही नहीं चाहिये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहँ कछु दुर्लभ जग नाहीं॥

स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—'जो सारे भूतोंके हितमें रत हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥' (१२।४)

अतएव यथाशक्ति शरीर, मन, वाणी और धनके द्वारा बड़े उत्साहके साथ निःस्वार्थभावसे सब प्राणियोंकी सेवा करनी चाहिये।

सत्यके पालनपर बालकोंको विशेष ध्यान देना चाहिये। जैसा देखा, सुना और समझा हो उसीके अनुसार निष्कपटभावसे कहना, न उससे अधिक और न कम ही कहना—यही सत्य है; तथा वह वाणी सत्यके साथ-साथ मधुर और प्रिय हो। मधुर और प्रिय वही है, जो परिणाममें हितकर हो। मनुजीने कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥ (४।१३८)

'सत्य बोले, प्रिय बोले, ऐसी वाणी न बोले, जो सत्य तो हो पर अप्रिय हो और न ऐसी ही वाणी बोले, जो प्रिय तो हो किंतु असत्य हो, यही सनातन धर्म है।'

श्रीभगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीताके सत्रहवें अध्यायके १५वें श्लोकमें वाणीका तप बतलाते हुए यह आदेश दिया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है (वह वाणीका तप कहा जाता है)।'

जो बालक असत्य बोलता है उसका कोई विश्वास नहीं करता, न उसकी इस लोक और परलोकमें प्रतिष्ठा ही होती है। अतएव सत्य, प्रिय, मित और हितभरे वचन बोलना चाहिये तथा सबका

विश्वासपात्र बनना चाहिये। जो किसीको धोखा नहीं देता, अपना दायित्व समझता है, कर्तव्यच्युत नहीं है, समय व्यर्थ नहीं बिताता है और गुरुजनोंके इच्छानुसार कार्य करके उनको अपनी आवश्यकता पैदा कर देता है, वही बालक विश्वासपात्र समझा जाता है। ये सब बातें स्वार्थत्यागपूर्वक सेवा करनेसे स्वाभाविक ही हो जाती हैं। इसलिये हरेक कार्यमें स्वार्थत्याग करके सबकी सेवा करनी चाहिये।

विद्याका अभ्यास

बालक-बालिकाओंके माता-पिता तथा अभिभावकोंको चाहिये कि वे बालकोंको विषय-सुखोंमें आसक्त होनेका अवसर न दें; क्योंकि विषयोंमें सुखकी इच्छा उत्पन्न हो जानेपर बालक यथार्थ विद्याके लाभसे वंचित रह जाता है। बुद्धिमान् तरुण-तरुणियोंको भी ऐसा ही समझना तथा करना चाहिये। इस समय अनेक प्रकारकी भाषा और लिपिके ज्ञानकी भी बहुत आवश्यकता हो गयी है। हिंदी, संस्कृत, बंगला, गुजराती, मराठी, गुरुमुखी तथा अपनी प्रान्तीय एवं अंग्रेजी, रूसी और चीनी आदि विदेशी—अनेकों भाषाओं और लिपियोंमेंसे जितनीका ज्ञान हो, उतना ही अच्छा है।

कॉलेज-स्कूलोंकी सहशिक्षा अर्थात् लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ना बड़ा ही खतरनाक और हानिकारक है, इससे चरित्रनाशकी बहुत आशंका है। सहशिक्षाके बहुत अधिक दुष्परिणाम प्रत्यक्ष हो चुके हैं, इसलिये सहशिक्षाको सर्वथा बंद करके लड़के-लड़कियोंको अलग-अलग पाठशालाओंमें पढ़ाना चाहिये। तेरह-चौदह वर्षकी या उससे अधिक आयुवाली अविवाहित या विवाहित युवतियोंको तो अपने घरमें रहते हुए ही गृहकार्यके साथ-साथ विद्याका अभ्यास करना चाहिये। वे चाहे नैहर (पीहर)-में रहती हों या ससुरालमें, उनके लिये घरसे बाहर जाकर स्कूलों, कॉलेजोंमें पढ़ाई करना सर्वथा हानिकारक

है; क्योंकि उच्च कक्षाओंमें अध्यापक प्रायः पुरुष ही रहते हैं, इसलिये भी उनके संसर्गसे उच्छृंखलताकी वृद्धि और चरित्रहीनताकी सम्भावना है। ऐसी अनेक घटनाएँ हुई भी सुनी जाती हैं।

बालक-बालिकाओंको ऐसा श्रृंगार भी नहीं करना चाहिये, जिसे देखकर मनमें विकार उत्पन्न हो। सौन्दर्य, सजावट, शौकीनी आदि श्रृंगारकी भावनाओंके उत्पन्न होनेसे मनोविकार बढ़ता है और चरित्रका नाश हो जाता है।

पाठ्यक्रममें भी श्रृंगार, अश्लीलता, अभक्ष्यभक्षण तथा नास्तिकताका वर्णन करनेवाली तथा इनको प्रोत्साहित करनेवाली पुस्तकें नहीं रखनी चाहिये और न पढ़नी चाहिये। इससे सभी प्रकारकी बड़ी भारी हानि है। अतः जिन पुस्तकोंके अध्ययनसे बालक-बालिकाओंकी भौतिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति हो, उनमें सभ्यता, शिष्टाचार, विनय, सेवा, संयम, बल, तेज, सद्गुण, सदाचार, विवेक और ज्ञान बढ़े तथा बुद्धि तीक्ष्ण हो, ऐसी उत्तम शिक्षासे युक्त पुस्तकें ही पढ़नी चाहिये।

यह विद्याका अभ्यास लड़कियोंको चौदह वर्ष तथा लड़कोंको अठारह वर्षकी आयु होनेके तथा विवाहके पूर्व ही कर लेना चाहिये। आजकलके असंयमपूर्ण विलासी वातावरणमें विवाहके लिये विलम्ब करनेसे बालिकाओं और बालकोंके चरित्र कुसंगके कारण बिगड़ जाते हैं, अतः इस समय अठारह वर्षके बाद बालकका और चौदह वर्षके पूर्व ही लड़कीका विवाह कर देना चाहिये। लड़का ब्रह्मचर्यपालनके लिये आग्रह करे और विवाह करनेका घोर विरोध करे तो ऐसी स्थितिमें बीस वर्षके बाद भी लड़केका विवाह किया जाय तो कोई हानि नहीं। आजकल स्कूल-कॉलेजोंमें वर्षमें प्रायः छः महीने छुट्टियोंमें चले जाते हैं, जिनमें विद्यार्थियोंका समय नष्ट होता है और वे व्यर्थ इधर-उधर भटकते हैं। यह समय यदि पढ़ाईमें

लगाया जाय तो इस समय जो पढ़ाई बीस वर्षकी अवस्थामें पूरी होती है, वही सोलह वर्षकी अवस्थामें पूरी हो सकती है। ऐसा करनेपर अठारह वर्षतक काफी पढ़ाई होनी सम्भव है। बालकोंको अठारह वर्षकी आयु होनेके बाद न्याययुक्त व्यवसायका कार्य, अपनी जातिके अनुसार जीविकाका कार्य मन लगाकर अवश्य करना चाहिये। काम करते हुए ही साथमें विद्याका अभ्यास भी किया जाय तो और भी उत्तम है, क्योंकि विवाह होनेके पश्चात् विद्याध्ययनमें मन विशेष नहीं लगता, इसलिये न्याययुक्त जीविकाके काममें मन लगाना चाहिये। जो किसी विशेष प्रकारकी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहें, वे विवाहके अनन्तर भी कर सकते हैं पर साधारणतया जीविकाके कार्यमें ही लगना उत्तम है।

जो बाल्य-अवस्थामें विद्याका अभ्यास नहीं करता, उसको सदाके लिये पश्चात्ताप करना पड़ता है। शास्त्रोंने विद्याकी बड़ी भारी महिमा गायी है। श्रीभर्तृहरिजी कहते हैं—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥

(नीतिशतक १६)

'विद्या ही मनुष्यका अधिक-से-अधिक रूप और ढका हुआ गुप्त धन है, विद्या ही भोग, यश और सुखको देनेवाली है तथा विद्या गुरुओंकी भी गुरु है। विदेशमें गमन करनेपर विद्या ही बन्धुके समान सहायक हुआ करती है। विद्या परा देवता है। राजाओंके यहाँ भी विद्याकी ही पूजा होती है, धनकी नहीं, इसलिये जो मनुष्य विद्यासे हीन है, वह पशुके समान है।'

चाणक्यनीतिमें कहा है—

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम्॥

(८।५)

'विद्यामें कामधेनुके समान गुण हैं, यह अकालमें भी फल देनेवाली है, यह विद्या मनुष्यका गुप्त धन समझी गयी है। विदेशमें यह माताके समान (मदद करती) है।'

किसी अन्य कविने कहा है—

न चौरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं
विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥

'विद्याको चोर या राजा नहीं छीन सकते। भाई इसका बँटवारा नहीं कर सकते, इसका कुछ बोझा भी नहीं लगता तथा दान करनेसे यानी दूसरोंको पढ़ानेसे यह विद्या नित्य बढ़ती ही रहती है, अतः विद्यारूपी धन सब धनोंमें प्रधान है।'

बालक-बालिकाओंको पढ़नेके समय झुककर या पसरकर नहीं पढ़ना चाहिये तथा रात्रिमें बिजलीकी तेज रोशनीके सामने भी नहीं पढ़ना चाहिये; क्योंकि इन सबसे नेत्रोंकी ज्योतिकी हानि होती है। इसी कारण वर्तमानमें स्कूल-कॉलेजोंमें पढ़नेवाले बहुत-से बालक-बालिकाओंमें नेत्रदोष आ जाता है और उन्हें अकालमें ही चश्मे लगाने पड़ते हैं।

ब्रह्मचर्यका पालन

वास्तवमें 'ब्रह्मचर्य' शब्दका अर्थ है—ब्रह्मके स्वरूपमें विचरण करना यानी ब्रह्मके स्वरूपका मनन करना। जिसका मन नित्य-निरन्तर सच्चिदानन्द ब्रह्ममें विचरण करता है, वही सच्चा ब्रह्मचारी

है। इसमें प्रधान आवश्यकता है—शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके बलकी। यह बल प्राप्त होता है—वीर्यकी रक्षासे। इसलिये सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना ही ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना कहा जाता है, अतः बालकोंको चाहिये कि न तो ऐसी कोई क्रिया करें, न ऐसा संग ही करें तथा न ऐसे पदार्थोंका सेवन ही करें कि जिससे वीर्यकी हानि हो।

सिनेमा-थियेटरोंमें प्रायः कुत्सित दृश्य दिखाये जाते हैं, इसलिये बालक-बालिकाओंको सिनेमा-थियेटर कभी नहीं देखना चाहिये और सिनेमा-थियेटरमें नट-नटी तो कभी बनना ही नहीं चाहिये। इस विषयके साहित्य, विज्ञान और चित्रोंको भी नहीं देखना-पढ़ना चाहिये; क्योंकि इसके प्रभावसे स्वास्थ्य और चरित्रकी बड़ी भारी हानि होती है और दर्शकका घोर पतन हो सकता है।

लड़के-लड़कियोंका परस्परका संसर्ग भी ब्रह्मचर्यमें बहुत घातक है। अतः इस प्रकारके संसर्गका भी त्याग करना चाहिये तथा लड़के भी दूसरे लड़कों तथा अध्यापकोंके साथ गंदी चेष्टा, संकेत, हँसी-मजाक और बातचीत करके अपना पतन कर लेते हैं, इससे भी लड़कोंको बहुत ही सावधान रहना चाहिये। लड़के-लड़कियोंको न तो परस्परमें किसीको देखना चाहिये, न कभी अश्लील बातचीत ही करनी चाहिये और न हँसी-मजाक ही करना चाहिये; क्योंकि इससे मनोविकार उत्पन्न होता है। प्रत्यक्षकी तो बात ही क्या, सुन्दरताकी दृष्टिसे चित्रमें लिखी हुई स्त्रीके चित्रको पुरुष और पुरुषके चित्रको स्त्री कभी न देखे। पुरुषको चाहिये कि माता-बहिन और पुत्री ही क्यों न हो, एकान्तमें तो कभी उनके साथ रहे ही नहीं। श्रीमनुजी कहते हैं—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(२। २१५)

'माता, बहिन या लड़कीके साथ भी एकान्तमें न बैठे, क्योंकि इन्द्रियोंका समूह बड़ा बलवान् है; वह विद्वान्को भी अपनी ओर खींच लेता है।' ऐसे ही स्त्रीको भी अपने पिता, भाई और युवा पुत्रके पास भी एकान्तमें नहीं बैठना चाहिये।

बालकोंको आठ प्रकारके मैथुनोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। शास्त्रोंमें आठ प्रकारके मैथुन इस प्रकार बतलाये हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

'स्त्रीका स्मरण, स्त्रीसम्बन्धी बातचीत, स्त्रियोंके साथ खेलना, स्त्रियोंको देखना, स्त्रीसे गुप्त भाषण करना, स्त्रीसे मिलनेका निश्चय करना और संकल्प करना तथा स्त्रीसंग करना—ये आठ प्रकारके मैथुन माने गये हैं।'

जिस प्रकार बालकोंके लिये बालिका या स्त्रियोंका स्मरण आदि त्याज्य हैं, वैसे ही बालिकाओंके लिये पुरुषों और बालकोंके स्मरण आदि त्याज्य हैं। यदि कहें कि इनमें और सब बातोंका तो परहेज किया जा सकता है, किंतु समयपर बातचीत तो करनी ही पड़ती है, सो ठीक है। लड़कीका कर्तव्य है कि किसी पुरुष या बालकसे आवश्यक बात करनेका काम पड़े तो नीची दृष्टि करके उसे पिता या भाईके समान समझकर शुद्ध भावसे बात करे तथा बालकको चाहिये कि किसी स्त्री या लड़कीसे आवश्यक बात करनेका काम पड़े तो नीची दृष्टि करके उसे माता या बहिनके समान समझकर शुद्ध भावसे बात करे।

मनमें विकार पैदा करनेवाले वेष-भूषा, साज-शृंगार, तेल-फुलेल, केश-विन्यास, गहने-कपड़े, फैशन आदिका विद्यार्थी बालक-बालिका सर्वथा त्याग कर दें। ऐसी संस्थाओं, स्थानों, नाट्यगृहों, उत्सवस्थलों, क्लबों, पार्टियों, भोजों, भोजनालयों,

होटलों और उद्यानोंमें भी न जायँ, जहाँ विकार उत्पन्न होनेकी तथा खान-पान और चरित्र भ्रष्ट होनेकी जरा भी आशंका हो। सदा सादगीसे रहें और पवित्र सादा भोजन करें। इस प्रकार बालक-बालिकाओंको ऊपर बताये हुए नियमोंका आचरण करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये।

श्रीहनुमान्‌जीने आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया, जिसके प्रभावसे वे बड़े ही धीर, वीर, तेजस्वी, ज्ञानी, विरक्त, भगवान्‌के भक्त, विद्वान् और बुद्धिमान् हुए। वाल्मीकीय रामायणके किष्किन्धाकाण्डमें आया है, जब श्रीहनुमान्‌जीकी श्रीराम-लक्ष्मणसे भेंट हुई, उस समय श्रीहनुमान्‌जीकी बातें सुनकर श्रीरामचन्द्रजीका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और वे लक्ष्मणसे कहने लगे—'लक्ष्मण! ये वानरराज सुग्रीवके मन्त्री हैं और उन्हींके हितकी इच्छासे यहाँ मेरे समीप आये हैं। ये वाक्य-रचनाको जाननेवाले हैं। ये व्याकरणके भी पण्डित हैं; क्योंकि बहुत-सी बातें बोल जानेपर भी इनके शब्दोंमें कहीं अशुद्धि नहीं आयी।' श्रीहनुमान्‌जी बहुत ही बुद्धिमान्, पण्डित, छन्द और काव्यके ज्ञाता तथा उच्च कोटिके विद्वान् थे। महान् संगीतज्ञ थे। वे योगकी सिद्धियोंके भी ज्ञाता थे, जिनके प्रभावसे वे महान्-से-महान् और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप धारण कर लिया करते थे। यह बात उनके चरित्रसे सिद्ध होती है। लंका जाते समय उन्होंने विशाल रूप धारण किया और सौ योजनके समुद्रको लाँघकर लंकापुरीमें प्रवेश करते समय मच्छरके समान सूक्ष्म रूप धारण कर लिया। वे बड़े भारी वीर और बलवान् भी थे। इसे बतानेवाले बहुत-से उदाहरण संसारमें प्रसिद्ध हैं। अक्षयकुमारको मार देना, रावणको मूर्च्छित कर देना, संजीवनी बूटीके लिये सूर्योदयके पूर्व ही द्रोणगिरिको उखाड़कर ले आना आदि घटनाएँ रामायणादि ग्रन्थोंमें मिलती हैं। श्रीरामजीके यज्ञीय अश्वकी रक्षाके समय राजा वीरमणिके दोनों पुत्रोंको

रथसहित पूँछमें लपेटकर पृथ्वीपर पटक देना, शिवजीके त्रिशूलको तोड़ डालना और उनको अपनी पूँछमें लपेटकर मारने लगना, वीरभद्रके द्वारा मारे हुए पुष्कलको द्रोणपर्वतसे संजीवनी लाकर जिला देना आदि श्रीहनुमान्‌जीके वीरतापूर्ण लोकोत्तर कार्योंका वर्णन पद्मपुराणके पातालखण्डमें मिलता है। हनुमान्‌जी श्रीभगवान्‌के अलौकिक भक्त हैं, यह तो सर्वप्रसिद्ध है ही। हनुमान्‌जीकी इस लोकोत्तर प्रतिभामें भगवान्‌की अनन्य भक्ति और ब्रह्मचर्य ही सर्वप्रधान कारण है। आज भी बल-वर्द्धनके लिये व्यायाम करनेवाले लोग 'महावीर' के नामका स्मरण करते हैं और महावीरके नामसे दल बनाते और अखाड़े खोलते हैं।

भीष्मपितामहने आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया था, यह बात महाभारतके आदिपर्वसे सिद्ध होती है। दासराजके यहाँ जाकर अपने पिताके लिये सत्यवतीको लानेके समय भीष्मने अपने राज्यके अधिकारका त्याग किया और आजीवन विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा करके आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया, इससे संतुष्ट होकर उनके पिता शान्तनुने उनको वरदान दिया कि 'तुम्हारी इच्छाके बिना तुम्हें मृत्यु नहीं मार सकेगी।' भीष्मजी अपने भाई विचित्रवीर्यके लिये काशिराजकी सभामें जाकर सब राजाओंको पराजित कर स्वयंवरसे राजकन्या अम्बा, अम्बिका और अम्बालिकाका हरण कर लाये। यह दुष्कर कर्म केवल अकेले भीष्मने किया और जब अम्बाका पक्ष लेकर परशुरामजी आये, तब उनके साथ तेईस दिन घोर युद्ध करके परशुरामजीको युद्धमें छका दिया। परशुरामजी-जैसे महान् अस्त्रधर त्रैलोक्यविजयी वीर भी दुर्धर्ष भीष्मको पराजित न कर सके। अर्जुनद्वारा बाणसे भीष्मका पृथ्वीपर गिराया जाना—यह केवल भीष्मकी इच्छासे ही हुआ। वास्तवमें भीष्मको पराजित करनेवाला शास्त्रोंमें कहीं देखने-सुननेमें नहीं आया। भीष्म केवल वीर ही नहीं थे; वे शास्त्रोंके

ज्ञाता, पण्डित और उच्च कोटिके अनुभवी, सद्‌गुणी, सदाचारी, ज्ञानी, महात्मा महापुरुष थे, जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके आग्रह करनेपर शरशय्यापर पड़े हुए ही धर्मराज युधिष्ठिरको राजनीति, धर्म और अध्यात्म आदि विषयोंका विस्तारपूर्वक उपदेश किया। महाभारतके शान्ति और अनुशासनपर्व इसी भीष्मोपदेशसे भरे हुए हैं।

भीष्मजी भगवान् श्रीकृष्णके अनन्यप्रेमी परम भक्त भी थे। महाभारतके शान्तिपर्वके ४५ और ४६वें अध्यायोंमें यह बात आती है कि जब वे शरशय्यापर शयन किये हुए थे, उस समय वे भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान कर रहे थे तो इधर श्रीकृष्ण भी इनका ध्यान कर रहे थे।

इसमें ब्रह्मचर्यपालन एक प्रधान कारण है। यदि आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन न हो सके तो आजकलके समयके अनुसार अठारह वर्षतक तो बालकोंको अवश्य ही ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। इससे पूर्व ब्रह्मचर्य खण्डित होनेसे शीघ्र ही बल, बुद्धि, तेज, आयु और स्मृतिका क्षय हो जाता है और रोगोंका शिकार होकर शीघ्र ही कालके मुखका ग्रास बनना पड़ता है। यह बात शास्त्रसम्मत तो है ही, युक्तिसंगत भी है; गम्भीरतासे सोचनेपर प्रत्यक्ष अनुभवमें भी आती है। अतएव ब्रह्मचर्यका कभी खण्डन न हो, इसके लिये विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि ब्रह्मचर्यके पालनसे बल, बुद्धि, वीर्य, तेज, स्मृति, धीरता, वीरता और गम्भीरताकी वृद्धि होकर उत्तम कीर्ति होती है तथा ईश्वरकी कृपासे ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और सद्‌गुण-सदाचारकी तथा परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति भी हो सकती है। प्राचीन-कालमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचारीगण ब्रह्मचर्यका पालन करते थे। कठोपनिषद्‌में बतलाया है—

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(१।२।१५)

'जिस परमपदकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उसको मैं तुम्हें संक्षेपसे बताता हूँ—**'ओम्'** यही वह पद है।'

इसलिये बालकोंको ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

माता-पिताकी सेवा

बालकोंके लिये अपने माता-पिताकी सेवा करना परम कर्तव्य और अत्यन्त आवश्यक है। इनकी सेवा करनेसे महान् लाभ और न करनेसे महान् हानि है। जिनके माता-पिता जीवित हैं, चाहे उनकी कितनी ही उम्र क्यों न हो, माता-पिताके आगे वे बालक ही हैं।

अतः सबको माता-पिताकी सेवाका लाभ उठाना चाहिये। सेवासे अभिप्राय है—तन, मन, धनद्वारा आदरसे सेवा-शुश्रूषापूर्वक उनको सुख पहुँचाना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके संकेत और मनकी रुचिके अनुसार आचरण करना तथा उनके चरणोंमें नमस्कार करना; क्योंकि बालकके पालन-पोषण और विवाह (शादी) आदि कार्योंमें माता-पिता महान् क्लेश सहते हैं तथा मरनेपर अपना सर्वस्व पुत्रोंको देकर जाते हैं; ऐसे परम हितैषी माता-पिताको जो त्याग देता है अथवा उनकी सेवा नहीं करता, वह घोर नरकमें जाता है। पद्मपुराणके भूमिखण्डमें बतलाया है—

पितरौ विकलौ दीनौ वृद्धौ दुःखितमानसौ॥
महागदेन संतप्तौ परित्यजति पापधीः।
स पुत्रो नरकं याति दारुणं कृमिसंकुलम्॥
वृद्धाभ्यां यः समाहूतो गुरुभ्यामिह साम्प्रतम्।
न प्रयाति सुतो भूत्वा तस्य पापं वदाम्यहम्॥
विष्ठाशी जायते मूढो ग्रामघोणी न संशयः।
यावज्जन्मसहस्रं तु पुनः श्वा चाभिजायते॥

पितरौ कुत्सते पुत्रः कटुकैर्वचनैरपि।
स च पापी भवेद् व्याघ्रः पश्चादृक्षः प्रजायते॥
मातरं पितरं पुत्रो न नमस्यति पापधीः।
कुम्भीपाके वसेत्तावद्यावद्युगसहस्रकम्॥

(६३। ४—७, ११, १२)

'जो किसी अंगसे हीन, दीन, वृद्ध, दुःखी तथा महान् रोगसे पीड़ित माता-पिताको त्याग देता है, वह पापात्मा पुत्र कीड़ोंसे भरे हुए दारुण नरकमें पड़ता है। जो पुत्र होकर बूढ़े माँ-बापके बुलानेपर भी उनके पास नहीं जाता, उसके पापका परिणाम बताता हूँ। वह मूर्ख अवश्य विष्ठा खानेवाला ग्रामसूकर होता है तथा फिर हजार जन्मोंतक उसे कुत्तेकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है। जो पुत्र कड़वे वचनोंद्वारा भी माता-पिताकी भर्त्सना करता है, वह पापी बाघकी योनिमें जन्म लेता है, तत्पश्चात् रीछ होता है। जो पापबुद्धि पुत्र माता-पिताको प्रणाम नहीं करता, वह हजार युगोंतक कुम्भीपाक नरकमें निवास करता है।'

इसलिये मनुष्यको अपने आत्माके सुधार और कल्याणके लिये जितना भी बन पड़े, अधिक-से-अधिक उनकी सेवा और आज्ञा-पालन करना चाहिये तथा उनके चरणोंमें नित्य नमस्कार करना चाहिये।

माता-पिताकी सेवाके विषयमें शास्त्रोंमें बड़ा भारी माहात्म्य लिखा है। केवल माता-पिताकी सेवासे ही मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है। कहीं-कहीं तो यह बात आती है कि उसे तीनों कालोंका ज्ञान भी हो जाता है। पद्मपुराणके सृष्टिखण्डके ४७वें अध्यायमें एक बड़ी सुन्दर कथा आती है; वह यहाँ लिखी जाती है—

पूर्वकालमें नरोत्तम नामके एक ब्राह्मण थे। वे अपने माता-पिताका अनादर करके तीर्थसेवनके लिये चल दिये। सब तीर्थोंमें

घूमते समय उनके वस्त्र तपके प्रभावसे प्रतिदिन आकाशमें ही सूखते थे। इससे उनके मनमें बड़ा भारी अहंकार हो गया। वे समझने लगे कि मेरे समान पुण्यात्मा और महायशस्वी दूसरा कोई नहीं है। एक दिन वे मुख ऊपर किये यही बात कह रहे थे कि इतनेमें एक बगुलेने उनके मुँहपर बीट कर दी। तब ब्राह्मणने क्रोधमें आकर उसे शाप दे दिया, जिससे बेचारा बगुला भस्म होकर जमीनपर गिर पड़ा। बगुलेकी मृत्यु होते ही नरोत्तमके मनमें बड़ा भारी मोह व्याप्त हो गया। उसी पापके कारण तबसे उनके वस्त्र आकाशमें नहीं ठहरते थे। यह जानकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। तब आकाशवाणीने कहा—'ब्राह्मण! तुम परम धर्मात्मा मूक चाण्डालके पास जाओ। वहाँ जानेसे तुम्हें धर्मका ज्ञान होगा। उसका वचन तुम्हारे लिये कल्याणकारी होगा।'

यह आकाशवाणी सुनकर ब्राह्मण मूक चाण्डालके घर गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि वह चाण्डाल सब प्रकारसे अपने माता-पिताकी सेवामें लगा है। जाड़ेके दिनोंमें वह अपने माँ-बापको स्नानके लिये गरम जल देता, उनके शरीरमें तेल मलता, तापनेके लिये अँगीठी जलाता, भोजनके बाद पान खिलाता और रूईदार कपड़े पहननेको देता था। प्रतिदिन भोजनके लिये मिष्टान्न परोसता और वसंत-ऋतुमें सुगन्धित माला पहनाता था। इनके सिवा, और भी जो भोग-सामग्रियाँ प्राप्त होतीं; उन्हें देता और भाँति-भाँतिकी आवश्यकताएँ पूर्ण किया करता था। ग्रीष्मकालमें प्रतिदिन माता-पिताको पंखा झलता था। इस प्रकार नित्यप्रति उनकी सेवा करके उनको भोजन कराकर ही वह भोजन करता था। माता-पिताकी थकावट और कष्टका निवारण करना उसका सदाका नियम था। इन पुण्यकर्मोंके कारण चाण्डालका घर बिना किसी आधार और खम्भेके ही आकाशमें स्थित था। उसके घरमें त्रिभुवनके स्वामी भगवान् श्रीहरि मनोहर ब्राह्मणका रूप धारण किये नित्य विराजते

थे। यह सब देखकर नरोत्तम ब्राह्मणको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने मूक चाण्डालसे कहा—'तुम मेरे पास आओ, मैं तुमसे सम्पूर्ण लोकोंके सनातन हितकी बात पूछता हूँ, उसे ठीक-ठीक बताओ।'

मूक चाण्डाल बोला—'विप्र! इस समय मैं माता-पिताकी सेवा कर रहा हूँ। आपके पास कैसे आऊँ? इनकी पूजा करके आपकी आवश्यकता पूर्ण करूँगा, तबतक मेरे दरवाजेपर ठहरिये।' चाण्डालके इतना कहते ही ब्राह्मणदेवता क्रोधमें भर गये और बोले—'मुझ ब्राह्मणकी सेवा छोड़कर तुम्हारे लिये कौन-सा कार्य बड़ा हो सकता है?'

चाण्डालने कहा—'आप कोप क्यों करते हैं, मैं बगुला नहीं हूँ। अब आपकी धोती न तो आकाशमें सूखती है और न ठहर ही पाती है। अतः आकाशवाणी सुनकर आप मेरे घरपर आये हैं। थोड़ी देर ठहरिये तो मैं आपके प्रश्नका उत्तर दूँगा; अन्यथा पतिव्रता स्त्रीके पास जाइये।'

तदनन्तर चाण्डालके घरसे ब्राह्मणरूपधारी भगवान् विष्णुने निकलकर नरोत्तम ब्राह्मणसे कहा—'चलो, मैं पतिव्रता देवीके घर चलता हूँ।' नरोत्तम कुछ सोचकर उनके साथ चल दिये।

इस कथासे मालूम होता है कि मूक चाण्डाल माता-पिताका महान् भक्त था। माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे उसे तीनों कालोंका ज्ञान था और वह अन्तमें स्वयं तो माता-पिताके सहित परमधाममें चला ही गया, उसके घरमें बसनेवाले जीव-जन्तु भी परमधाममें चले गये।

मर्यादापुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने माता-पिताकी सेवा करके जीवोंके कल्याणके लिये एक उच्च कोटिका आदर्श उपस्थित किया है; जिनकी कथा तुलसीकृत, अध्यात्म और वाल्मीकीय रामायणमें तथा पद्मपुराण और महाभारत आदि शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है।

पिताको दुःखी देखकर जब श्रीरामने माता कैकेयीसे उनके दुःखका कारण पूछा, तब उसने कहा कि 'राजाके मनमें एक बात है, परंतु वे तुम्हारे डरसे कहते नहीं, तुम इन्हें बहुत प्यारे हो, तुम्हारे प्रति इनके मुखसे अप्रिय वचन नहीं निकलते। इन्होंने जिस कार्यके लिये मुझसे प्रतिज्ञा की है, तुमको वह अवश्य ही करना चाहिये। यदि तुम उनकी आज्ञाका पालन कर सको तो मैं तुम्हें सारी बातें बता दूँ।' इसके उत्तरमें श्रीरामने कहा—

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।

(वा० रा० २। १८। २८-२९)

'अहो! मुझे धिक्कार है। हे देवि! आपको ऐसी बात मुझे नहीं कहनी चाहिये, क्योंकि मैं महाराजा पिताकी आज्ञासे आगमें कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष भी खा सकता हूँ और समुद्रमें भी कूद सकता हूँ।'

अध्यात्मरामायणमें तो यहाँतक कह दिया कि—

पित्रर्थे जीवितं दास्ये पिबेयं विषमुल्बणम्॥
सीतां त्यक्ष्येऽथ कौसल्यां राज्यं चापि त्यजाम्यहम्।
अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः॥
उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः।
उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते॥
अतः करोमि तत् सर्वं यन्मामाह पिता मम।
सत्यं सत्यं करोम्येव रामो द्विर्नाभिभाषते॥

(२। १। ५९—६२)

'पिताजीके लिये मैं जीवन दे सकता हूँ, हालाहल जहर पी सकता हूँ। राज्यको तो मैं त्याग ही रहा हूँ, पत्नी सीताको और माता

कौसल्याको भी त्याग सकता हूँ। जो पुत्र आज्ञा न मिलनेपर भी पिताके मनके और संकेतके अनुकूल कार्य करता है, वह 'उत्तम' और जो कहनेपर करता है, वह 'मध्यम' कहा गया है; किंतु जो कहनेपर भी नहीं करता, वह पुत्र तो 'मल' ही कहा जाता है। इसलिये मेरे पिताजीने मेरे लिये जो कुछ कहा है, वह सभी मैं करूँगा। आपसे मैं सत्य कहता हूँ, मैं उसे अवश्य करूँगा। राम कभी दो बात नहीं कहता।'

इसके बाद श्रीराम माता कौसल्याके भवनमें गये और उनसे प्रसन्नतापूर्वक अपने वन जानेका वृत्तान्त कहा। उनके वचन सुनकर माता कौसल्याको बहुत दुःख और उद्वेग हुआ। वे बोलीं—

पिता गुरुर्यथा राम तवाहमधिका ततः।
पित्राऽऽज्ञप्तो वनं गन्तुं वारयेयमहं सुतम्॥
यदि गच्छसि मद्वाक्यमुल्लङ्घ्य नृपवाक्यतः।
तदा प्राणान् परित्यज्य गच्छामि यमसादनम्॥

(अध्यात्म० २। ४। १२-१३)

'राम! जिस प्रकार तुम्हारे लिये पिता बड़े हैं, उनसे भी बढ़कर मैं तुम्हारे लिये बड़ी हूँ। वन जानेकी पिताने आज्ञा दी है तो मैं तुझ पुत्रको मना कर रही हूँ। यदि तुम मेरे वचनोंका उल्लंघन करके राजाके वाक्यसे वनको जाओगे तो मैं प्राण त्याग करके मर जाऊँगी।'

वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम्।
अहं प्रायमिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवितुम्॥
ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम्।

(२। २१। २७-२८)

यदि तुम शोक-विह्वल मुझको छोड़कर वन चले जाओगे तो

मैं यहाँ आहार नहीं करूँगी, जिससे जीवित नहीं रह सकूँगी। पुत्र! तब तुम लोकप्रसिद्ध (स्थानविशेष) नरकको प्राप्त होओगे।'

इसपर भगवान् श्रीरामने कहा—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥

(वा० रा० २। २१। ३०)

'माताजी! मैं सिर नवाकर आपसे क्षमा माँगता हूँ; मुझमें पिताकी आज्ञाका उल्लंघन करनेकी सामर्थ्य नहीं है; अतः मैं वनको जाना चाहता हूँ।' (आप प्रसन्नतापूर्वक मुझे आज्ञा दें।)

यहाँ श्रीतुलसीकृत रामायणमें माता कौसल्या धर्मशास्त्रके अनुसार केवल पिताकी ही आज्ञा हो तो वनमें न जानेके लिये कह रही हैं और यदि पिता दशरथ और माता कैकेयी दोनोंकी आज्ञा हो तो वन जानेकी अनुमति दे रही हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

फिर वे कहने लगीं—'रघुनन्दन! अब मैं तुम्हें रोक नहीं सकती। तुम इस समय जाओ, सत्पुरुषोंके मार्गपर स्थिर रहो और शीघ्र ही वनसे लौट आओ। तुम नियमपूर्वक प्रसन्नतासे जिस धर्मका पालन करते हो, वही तुम्हारी रक्षा करे। महर्षियोंके साथ सब देवता तुम्हारी रक्षा करें।'

इस प्रकार माताकी आज्ञा और आशीर्वाद लेकर भगवान् श्रीराम प्रसन्नवदन हो वनमें चले गये। धन्य है, उनकी मातृ-पितृ-सेवा और आज्ञापालन! जो मनुष्य उनका अनुकरण करता है, वह भी धन्य है; उसके उद्धारमें कोई भी शंका नहीं। भगवान्‌के तो नाम और स्वरूपके स्मरणसे ही कल्याण हो जाता है; फिर उनके अनुकरणसे कल्याण हो जाय इसमें तो कहना ही क्या है?

अतएव बालकोंको उचित है कि माता-पिताकी सेवाको परम धर्म मानकर उनकी सेवामें सब प्रकारसे सदा तत्पर रहें। मन, वाणी और शरीरसे सदा उनके अनुकूल चेष्टा करना, नित्य नमस्कार और परिक्रमा करना, चरणोंका प्रक्षालन करना और उनकी आज्ञाका पालन करना आदि सेवाकी शास्त्रोंमें बड़ी भारी महिमा बतलायी है। पद्मपुराणमें कहा है—

सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता।
मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत्॥
मातरं पितरं चैव यस्तु कुर्यात् प्रदक्षिणम्।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा॥
जानुनी च करौ यस्य पित्रोः प्रणमतः शिरः।
निपतन्ति पृथिव्यां च सोऽक्षयां लभते दिवम्॥

(सृष्टिखण्ड ४७। ११—१३)

'माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप है; इसलिये सब प्रकारसे यत्नपूर्वक माता-पिताका पूजन करना चाहिये। जो माता और पिताकी प्रदक्षिणा करता है, उसने सातों द्वीपोंसे युक्त समूची पृथ्वीकी परिक्रमा कर ली। माता-पिताको प्रणाम करते समय जिसके घुटने, हाथ और मस्तक पृथ्वीपर टिकते हैं, वह अक्षय स्वर्गको प्राप्त होता है।'

मातापित्रोस्तु यः पादौ नित्यं प्रक्षालयेत् सुतः।
तस्य भागीरथीस्नानमहन्यहनि जायते॥

(भूमिखण्ड ६२। ७४)

'जो पुत्र प्रतिदिन माता और पिताके चरण पखारता है और उस चरणोदकको सिरपर धारण करता है उसका नित्यप्रति गंगा-स्नान हो जाता है।'

पतितं क्षुधितं वृद्धमशक्तं सर्वकर्मसु।
व्याधितं कुष्ठिनं तात मातरं च तथाविधाम्॥

उपाचरति यः पुत्रस्तस्य पुण्यं वदाम्यहम्।
विष्णुस्तस्य प्रसन्नात्मा जायते नात्र संशयः॥
प्रयाति वैष्णवं लोकं यदप्राप्यं हि योगिभिः।

(भूमिखण्ड ६३। २—४)

'यदि पिता पतित, भूखसे व्याकुल, वृद्ध, सब कार्योंमें असमर्थ, रोगी और कोढ़ी हो गये हों तथा इसी प्रकार माताकी भी वही अवस्था हो उस समयमें भी जो पुत्र उनकी सेवा करता है, उसके पुण्यका माहात्म्य मैं कहता हूँ—उसपर निस्संदेह भगवान् श्रीविष्णु प्रसन्न होते हैं। वह योगियोंके लिये भी दुर्लभ श्रीविष्णुभगवान्के परमधामको प्राप्त होता है।'

नास्ति मातुः परं तीर्थं पुत्राणां च पितुस्तथा।
नारायणसमावेताविह चैव परत्र च॥

(भूमिखण्ड ६३। १३)

'पुत्रोंके लिये माता तथा पितासे बढ़कर दूसरा कोई भी तीर्थ नहीं है। माता-पिता—ये दोनों इस लोकमें और परलोकमें भी निस्संदेह नारायणके समान हैं।'

शास्त्रोंमें माता-पिताकी सेवाके और भी बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। पद्मपुराणके भूमिखण्डमें आता है कि द्वारकावासी शिवशर्माके यज्ञशर्मा, वेदशर्मा, धर्मशर्मा, विष्णुशर्मा, सोमशर्मा नामक पाँचों पुत्रोंने मातृ-पितृ-भक्तिसे परमपदकी प्राप्ति कर ली। मनुष्यकी तो बात ही क्या है, कुंजल नामके तोतेके चारों पुत्र उज्ज्वल, समुज्ज्वल, विज्वल और कपिञ्जल (पक्षी) भी माता-पिताके बड़े भक्त हुए हैं। माता-पिताकी सेवाके विषयमें पद्मपुराण भूमिखण्डमें कुण्डलपुत्र सुकर्माका, वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डके ६३ और ६४वें सर्गमें श्रवणका और महाभारतके वनपर्वके २०७वें अध्यायमें धर्मव्याधका इतिहास मिलता है। समस्त

स्मृतियाँ भी एक स्वरसे माता-पिताकी सेवाके महत्त्वको बतलाती हैं। शास्त्रोंमें गुरु, उपाध्याय और आचार्यकी सेवासे भी माता-पिताकी सेवाका महत्त्व अधिक बतलाया है; क्योंकि माता-पिता बालकके पालन-पोषणमें जो कष्ट सहते हैं, उसका बदला किसी भी हालतमें बालक चुका नहीं सकता। मनुस्मृतिमें बतलाया है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

(२। २२७)

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समयमें जो क्लेश माता-पिता सहते हैं उसका बदला सौ वर्षोंमें भी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता।' इसलिये—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(२। १४५)

'बड़प्पनमें दस उपाध्यायोंसे एक आचार्य, सौ आचार्योंसे एक पिता और हजार पिताओंसे भी एक माता बड़ी है।'

इस कलियुगमें भी अनेकों मातृ-पितृभक्त पुरुष हो गये हैं। उनमेंसे एक संक्षिप्त घटना यहाँ लिखी जाती है—

दक्षिणमें चन्द्रभागाके तटपर श्रीविट्ठलजी (विठोबा) भगवान्‌के मन्दिरके पास ही प्रायः पाँच सौ गज दूरीपर 'पुण्डलीक' का मन्दिर है और वहाँ इसका बड़ा माहात्म्य है। ये पुण्डलीक पहले माता-पिताके भक्त नहीं थे। एक बार वे पत्नीसहित काशी गये थे, वहाँ उन्होंने काशीसे तीन कोसपर मातृ-पितृभक्त महात्मा कुक्कुटके आश्रममें मूर्तिमान् गंगा-यमुना-सरस्वतीको सेवा करते देखा। पुण्डलीक जब उनके चरण-स्पर्श करनेको बढ़े तब वे यह कहकर दूर हट गयीं कि 'तुम पापी हो, हमें छूना मत।' पुण्डलीकके

बहुत अनुनय-विनय करनेपर गंगा आदिने बताया कि 'तुम-सरीखे पापी हममें स्नान करके जो पापराशि छोड़ जाते हैं, उन पापराशिको धोकर पूर्ववत् विशुद्ध होनेके लिये हमलोग पुण्यपुरुषोंके आश्रमोंमें आकर उनकी सेवा करती हैं।' यह सुनकर पुण्डलीकने उनसे अपने उद्धारका उपाय पूछा। उन्होंने कुक्कुट ऋषिके पास जाकर उनसे पूछनेकी सम्मति दी। तदनुसार पुण्डलीकने कुक्कुट ऋषिके पास जाकर अपनी सारी कथा सुनायी और उद्धारका उपाय पूछा। इसपर परम मातृ-पितृभक्त कुक्कुट ऋषिने कहा कि 'पुण्डलीक! तू बड़ा मूर्ख है जो माता-पिताको छोड़कर यहाँ काशी-यात्राको आया है। तुझे यहाँ क्या फल मिलेंगे? माता-पिताकी सेवा काशी-यात्राकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है। जा, माता-पिताकी सेवा कर।' यह सुनकर पुण्डलीक वहाँसे लौट आये और अनन्यभावसे माता-पिताकी सेवा करने लगे, वे फिर माता-पिताके साथ पण्ढरीमें आकर रहे। एक दिन उन्हें दर्शन देनेके लिये स्वयं भगवान् पधारे। उस समय ये माता-पिताकी सेवामें लगे थे। उन्होंने भगवान्‌के आदरातिथ्यकी अपेक्षा माता-पिताकी सेवाको श्रेष्ठ समझा और भगवान्‌की भी उपेक्षा न हो इसलिये भगवानकी ओर एक ईंट फेंककर प्रार्थना की कि आप इसपर खड़े रहें। भगवान् भक्त-वत्सल हैं! पुण्डलीककी मातृ-पितृभक्तिसे संतुष्ट होकर उसी ईंटपर खड़े हो गये। माता-पिताकी सेवा कर चुकनेपर भगवान्‌की पुण्डलीकने स्तुति की। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर जब वर माँगनेको कहा, तब पुण्डलीकने यही वर माँगा कि मेरी मातृ-पितृभक्ति सदा बनी रहे और आप इसी रूपमें यहीं विराजें।' पुण्डलीकको 'तथास्तु' कहकर भगवान् पुण्डलीकके इच्छानुसार श्रीविग्रहके रूपमें ईंटपर खड़े हो गये और आजतक उन्हीं श्रीविग्रहकी पूजा होती है। लाखों नर-नारी '**पुण्डलीक वरदे हरिविट्ठल**' का जयघोष करते हुए भगवान्‌के

दर्शन करते हैं। पुण्डलीककी पूजा होती है और पुण्डलीकके माता-पिताकी समाधि भी उन्हींके मन्दिरके पास ही विद्यमान है।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि केवल माता-पिताकी सेवासे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है। यदि कहें कि माता-पिताकी सेवासे कल्याण होनेकी बात शास्त्रमें आती है, यह तो ठीक है; किंतु यह बात युक्तिसे समझमें नहीं आती तो इसका उत्तर यह है कि यह युक्तिसंगत भी है। कोई कार्य माता-पिताके तो अनुकूल है पर पुत्रके प्रतिकूल है तो उस समय वह आज्ञाकारी पुत्र अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अपने माता-पिताके अनुकूल ही कार्य करता है तथा जो कार्य पुत्रके अनुकूल है, किंतु माता-पिताके प्रतिकूल होनेके कारण वे उसे नहीं चाहते तो उस परिस्थितिमें वह पुत्र उस कार्यको माता-पिताके प्रतिकूल समझकर उसे तुरंत त्याग देता है। इस प्रकारकी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्रतिदिन ही प्राप्त होती रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि पुत्रकी अनुकूलता-प्रतिकूलता वृत्तियोंपर नित्य आघात पड़ते रहनेसे उसकी अनुकूल और प्रतिकूल दोनों वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और वह माता-पिताकी अनुकूलतामें ही अपनी अनुकूलता तथा उनकी प्रतिकूलतामें ही अपनी प्रतिकूलताका समावेश कर देता है; उसकी अपनी न कहीं अनुकूलता रहती है और न प्रतिकूलता ही। तब अनुकूलतामें होनेवाले राग और प्रतिकूलतामें होनेवाले द्वेषका अत्यन्त अभाव हो जाता है। अन्तःकरणमें होनेवाले सुख-दुःखादि सारे विकारोंके मूल राग-द्वेष ही हैं। इनका अत्यन्त अभाव होनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरणकी शुद्धिसे समता और चित्तमें प्रसन्नता होती है और प्रसन्नतासे परमात्माके स्वरूपमें स्थिति हो जाती है, जिससे परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति हो

जाती है। अतएव माता-पिताकी सेवामें कल्याण होना शास्त्रसंगत तो है ही, युक्तिसंगत भी है।

गुरु-सेवा

माता-पिताकी भाँति आचार्य या गुरुकी सेवा करना भी परम कर्तव्य और अत्यन्त आवश्यक है। ऋषिकुल, गुरुकुल, पाठशाला, विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय आदिमें पढ़नेवाले विद्यार्थियोंको अपने आचार्य, अध्यापक, प्रोफेसर, प्रिन्सिपल आदि गुरुजनोंका सत्कार, उनकी आज्ञाका पालन वर्णाश्रमानुसार यथोचित सेवा अवश्य करनी चाहिये।

इसी प्रकार आत्मोद्धारके लिये उपदेश करनेवाले गुरुकी विशेष सेवा करनी चाहिये। ऐसे सद्‌गुरुकी सेवासे ज्ञानकी प्राप्ति होकर परम कल्याण हो जाता है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४। ३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

उपनिषदोंमें भी गुरुभक्तोंकी अनेक कथाएँ मिलती हैं। सत्यकाम और उपकोसल आदिको गुरुकी सेवासे ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो गया था। गुरुभक्तिकी महिमाके प्रसंगमें पद्मपुराणके भूमिखण्डमें बतलाया है कि 'गुरुके अनुग्रहसे शिष्यको लौकिक आचार-व्यवहारका ज्ञान होता है; ज्ञानकी प्राप्ति होती है और वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जैसे सूर्य सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित

करते हैं, उसी प्रकार गुरु शिष्योंको उत्तम बुद्धि देकर उनके अन्तर्जगत्को प्रकाशपूर्ण बनाते हैं*। वे शिष्यके अज्ञानमय अन्धकारका नाश करते हैं, अतः शिष्योंके लिये गुरु ही सबसे उत्तम तीर्थ हैं। यह समझकर शिष्यको उचित है कि वह सब तरहसे गुरुको प्रसन्न रखे; गुरुको पुण्यमय जानकर मन, वाणी और शरीर—तीनोंसे उनकी सेवा करे।'

इसलिये बालकोंको नित्य अपने गुरुजनोंके चरणोंमें दाहिने हाथसे उनके दायें पैरको और बायें हाथसे बायें पैरको छूकर प्रणाम करना चाहिये। श्रीमनुजी कहते हैं—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥

(मनु० २। ७२)

'हाथको हेर-फेर करके गुरुको प्रणाम करना चाहिये। बायें हाथसे बायाँ चरण और दाहिने हाथसे दाहिना चरण छूना चाहिये।' तथा सदा गुरुके साथ बहुत ही आदरपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। श्रीमनुजीने बताया है—

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात् सर्वदा गुरुसंनिधौ।
उत्तिष्ठेत् प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥
आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः॥
नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसंनिधौ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्॥

(२। १९४, १९६, १९८)

---

* सर्वेषामेव लोकानां यथा सूर्यः प्रकाशकः।
गुरुः प्रकाशकस्तद्वच्छिष्याणां बुद्धिदानतः॥

'गुरुके सामने सदा साधारण अन्न, वस्त्र और वेषसे रहे तथा गुरुसे पहले तो उठे और पीछे सोवे। बैठे हुए गुरुसे खड़े होकर और खड़े हुएसे उनके सामने जाकर तथा अपनी ओर आते हुएसे कुछ पद आगे जाकर एवं दौड़ते हुएसे उनके पीछे दौड़कर (बातचीत) करे। गुरुके समीप शिष्यकी शय्या और आसनादि सदा नीचा रहना चाहिये। गुरुकी आँखोंके सामने शिष्यको मनमाने आसनसे नहीं बैठना चाहिये।'

गुरुके साथ कभी असद्व्यवहार नहीं करना चाहिये। असद्व्यवहार करनेसे दुर्गति होती है। श्रीमनुजी कहते हैं—

परीवादात् खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी॥

(२। २०१)

'गुरुको झूठा दोष लगानेवाला गधा होता है, उनकी निन्दा करनेवाला निस्संदेह कुत्ता होता है, अनुचित रीतिसे उनके धनको भोगनेवाला कृमि होता है और उनके साथ डाह रखनेवाला कीट होता है।'

अतएव इस प्रकार कभी भी गुरुके साथ बुरा बर्ताव न करे, बल्कि उनकी आज्ञाका पालन करे और उनकी इच्छाके अनुसार कार्य करे। उनकी इच्छाका पता न लगे तो उनके संकेतके अनुसार करे, संकेतका पता न लगे तो उनकी आज्ञाके अनुसार करे तथा मन, वाणी और शरीरसे सदा-सर्वदा उनकी सेवामें तत्पर रहे। इस प्रकार नित्य नमस्कार, सेवा और आज्ञापालन करनेसे शिष्यका कल्याण हो जाता है।

माता-पिता और गुरुकी सेवाका महत्त्व जितना कहा जाय, उतना ही थोड़ा है। श्रीमद्भगवद्गीताके १७वें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें शारीरिक तपका वर्णन करते हुए श्रीभगवान्‌ने जो

'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्' कहा है, उसका अभिप्राय यही है कि देवता, ब्राह्मण, गुरु यानी माता-पिता, आचार्य आदि तथा प्राज्ञ यानी ज्ञानवान् आदिका पूजन अर्थात् सेवा-सत्कार और आदर करना चाहिये।

श्रीमनुजीने बतलाया है—

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रीँल्लोकान् विजयेद् गृही।

(२। २३०, २३२)

'माता-पिता और आचार्य—ये तीनों भूः, भुवः और स्वः लोक हैं, ये ही तीनों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम हैं, ये ही तीनों ऋक्, यजुः और सामवेद हैं तथा ये ही तीनों गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय अग्नि हैं। इन तीनोंकी सावधानीपूर्वक सेवासे गृहस्थी मनुष्य तीनों लोकोंको जीत लेता है।' श्रीमनुजी कहते हैं—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(मनु० २। २३७)

'इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कृत्य समाप्त हो जाता है, यानी उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। यही साक्षात् परमधर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

इसी प्रकार वेदोंमें भी इसकी बड़ी महिमा मिलती है। तैत्तिरीयोपनिषद् (१। ११)-में बतलाया है—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

'माताको देव माननेवाला हो, पिताको देव माननेवाला हो, आचार्यको देव माननेवाला हो' अर्थात् इन सबको परमात्मदेव माननेवाला हो।

ईश्वर-भक्ति

ईश्वरकी भक्तिके प्रभावसे दुर्गुण, दुराचार, आलस्य, प्रमाद, दुर्व्यसनरूप आसुरी सम्पदाका तथा दुःखोंका स्वाभाविक अपने-आप ही अत्यन्त अभाव हो जाता है और उसमें सद्‌गुण-सदाचाररूप दैवी सम्पदाके लक्षण अपने-आप ही आ जाते हैं, जिससे सदाके लिये परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। इसमें न तो पैसे खर्च होते हैं, न कोई समय व्यय होता है और न कोई परिश्रम ही। जैसे रात्रिके समय लेटनेके बाद कोई कार्य तो है ही नहीं, समय केवल सोनेमें ही जाता है और स्वप्न भी वैसे ही आते हैं, जैसे कि सोनेके आरम्भ-समयमें संकल्प होते हैं। इसलिये शयनके समय सांसारिक संकल्पोंके प्रवाहको हटाकर परमात्मविषयक संकल्प करते हुए अर्थात् परमात्माके नाम, रूप, गुण, प्रभावका स्मरण करते हुए शयन करनेसे रात्रिमें परमात्मविषयक ही संकल्प होते रहेंगे, इससे बुद्धि सात्त्विक होगी और हम परमात्माके निकट पहुँचेंगे। बतलाइये, इसमें हमको क्या परिश्रम है एवं न तो इसमें पैसोंका खर्च है और न समयका ही। फिर इसके न होनेमें कारण श्रद्धा-प्रेमकी ही कमी है। श्रद्धा और प्रेम हमलोगोंका स्वाभाविक संसारमें है, उसको भगवान्‌की ओर कर देनेसे महान् लाभ है और संसारकी ओर रखनेसे बड़ी हानि है। 'भगवान् हैं और मिलते हैं तथा वे अन्तर्यामी, परमदयालु और सर्वशक्तिमान् हैं'—इस प्रकारका जो भक्तिपूर्वक विश्वास है, इसीका नाम श्रद्धा है। इस प्रकार परमात्मामें विश्वास होनेपर उसके द्वारा कोई भी दुराचाररूप पाप नहीं बन सकते; क्योंकि उसको यह विश्वास है कि भगवान् हैं और वे सब जगह व्यापक हैं तथा सब जगह उनकी आँखें हैं और सब जगह ही उनके कान हैं। अतः हम जो कुछ कर रहे हैं, भगवान् उसे देख रहे हैं और जो कुछ हम बोल रहे हैं, उसे वे सुन रहे हैं। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(१३।१३)

'वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।'

जब बालकको इस प्रकार विश्वास हो जाता है, तब फिर वह दुराचार, दुर्व्यसन और प्रमादरूप पापको जो कि परमात्मासे विपरीत कार्य हैं, कैसे कर सकता है?

ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करके उनकी शरण होनेपर मनुष्यमें निर्भयता आ जाती है तथा उसमें धीरता, वीरता, गम्भीरता ईश्वर कृपासे स्वाभाविक ही आ जाती है। अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा दूसरोंकी हिंसा करनेवाला वीर नहीं कहलाता। वीर पुरुष वही है, जो अपने ऊपर भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी भक्त प्रह्लादकी भाँति अपने सिद्धान्तको, कर्तव्यको नहीं छोड़ता, वरं उसपर दृढ़ताके साथ डटा रहता है, जरा भी विचलित नहीं होता। ईश्वरके सगुण और निर्गुण स्वरूपकी प्राप्ति या ज्ञान न होनेके कारण उसका यथार्थ चिन्तन न हो तो कोई हानि नहीं, किंतु जीव ईश्वरका अंश होनेसे उसका भगवान्‌में प्रेम स्वाभाविक ही होना चाहिये। अतः भगवान्‌के साथ आत्मीयताके दृढ़ होनेके लिये भगवान्‌से दास्य, सख्य आदिमेंसे किसी भावका सम्बन्ध, उसकी सत्तामें विश्वास, उसका भरोसा तथा नामकी स्मृति अवश्य और दृढ़ होनी चाहिये। फिर उसके द्वारा कोई भी पाप नहीं हो सकता।

दुराचार आदि पापोंके संस्कार ही दुर्गुणके रूपमें हृदयमें जमते हैं। जब उसके द्वारा कोई बुरा काम नहीं होगा, तब दुर्गुण कैसे जम सकते हैं, बल्कि पहलेके संचित दुर्गुणोंके संस्कार भी

भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे नष्ट हो सकते हैं। उपर्युक्त प्रणालीके अनुसार शयन करनेका अभ्यास करनेसे शयनकाल भी साधनमें परिणत हो सकता है। विचारना चाहिये, यह कितने उत्तम लाभकी बात है। यह सब समझकर भी यदि हम इसके लिये चेष्टा न करें तो हमारे समान कौन मूर्ख होगा?

इसी प्रकार विद्याभ्यास करते, चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते और खेल-कूदके समय भी भगवान्‌के गुण-प्रभावसहित नाम, रूप और चरित्रको याद रखते हुए ही उपर्युक्त सारी क्रियाएँ करनी चाहिये। जैसे व्रजकी गोपियाँ वाणीके द्वारा भगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन और मनसे भगवान्‌का स्मरण करती हुई ही घरका सब काम किया करती थीं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

(१०। ४४। १५)

'जो गौओंको दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय, प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्‌गदवाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं, इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं।'

अतएव बालकोंकी इस प्रकार वाणीके द्वारा भगवान्‌के नाम गुणोंका प्रेमपूर्वक कीर्तन तथा मनसे उनका स्मरण करते हुए ही सब चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा करनेपर स्वाभाविक ही दुर्गुण-दुराचारोंका

नाश तथा सद्गुण-सदाचारोंका आविर्भाव होकर परम शान्ति और परम आनन्द मिल सकते हैं। ऐसा करनेमें न तो समयका खर्च है, न पैसोंका ही और न कोई परिश्रम ही है। यह अलौकिक परम लाभ स्वाभाविक ही मिल सकता है, जिसके फलस्वरूप भगवान्‌में प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

प्रात:काल और सायंकाल जो नित्यकर्मके लिये समय निकाला जाता है, उसको विशेष सार्थक बनाना चाहिये। उस समय भजन-ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि जो कुछ भी किया जाता है, अर्थ और भावकी ओर खयाल रखकर करना चाहिये। इस प्रकार श्रद्धा-भक्ति और आदरपूर्वक नियमितरूपसे किया हुआ नित्यकर्म भी बहुत दामी हो जाता है; किंतु जो बिना आदर और बिना मनके साधन किया जाता है, वह विशेष दामी नहीं होता।

भक्त ध्रुवने बड़े आदरपूर्वक साधन किया था, जिसके फलस्वरूप साढ़े पाँच महीनोंमें ही उन्हें भगवान् मिल गये। सौतेली माता सुरुचिके आक्षेपभरे वचनोंने भी उनके हृदयमें उपदेशका काम कर दिया। और जन्म देनेवाली माता सुनीति तथा श्रीनारदजीका उपदेश पाकर ध्रुव जप, ध्यान और तपश्चर्यामें संलग्न हो गये, जिससे वे शीघ्र ही परमपदको प्राप्त हो गये।

इसी प्रकार श्रीनारदजीका उपदेश पाकर भक्त प्रह्लादने निष्कामभावसे भक्ति करके उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त की। प्रह्लादने पाठशालामें पढ़ते समय भारी-से-भारी अत्याचारोंको सहते हुए भी भगवान्‌की भक्ति करते और बालकोंको कराते हुए भगवद्दर्शन प्राप्त किया। उनकी भक्तिका प्रभाव देखिये, जहरीले सर्पोंके विष तथा अग्निकी लपटोंका भी उनपर कोई असर नहीं हुआ। इसके सिवा उनपर और भी बहुत-से अत्याचार हुए; किंतु प्रह्लादका बाल भी बाँका नहीं हुआ। प्रह्लाद मनसे सर्वत्र भगवान्‌को देखते और भगवान्‌के नाम-

गुणोंका कीर्तन किया करते थे। हिरण्यकशिपुके भय, लोभ और त्रास देनेपर भी प्रह्लाद अपनी भक्तिपर डटे ही रहे तथा प्रेमपूर्वक अत्याचारोंको सहते रहे। अतः किसी अत्याचारका प्रतीकार बिना किये ही भक्तिके प्रभावसे दैत्यके सभी दारुण अत्याचार निष्फल हो गये। यह समझकर बालकोंको बड़े उत्साहके साथ भगवान्‌के नाम और रूपको याद रखते हुए ही सब काम करते रहना चाहिये। भगवान्‌ने अर्जुनको भी यही आदेश दिया है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८।५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

अतएव बालकोंको भी सब समय भगवान्‌का आश्रय लेकर ही सब काम करना चाहिये।

यहाँ बालकोंके सम्बन्धमें जो बातें कही गयी हैं, वही तरुणोंके और प्रायः बड़ी उम्रवालोंके लिये भी समझना चाहिये। मेरा ऐसा विश्वास है कि इस प्रकारसे यदि वास्तवमें बालकोंका और तरुणों, प्रौढ़ोंका जीवन बन जाय तो मनुष्य-जीवनकी सर्वांगीण सार्थकता हो सकती है।

बालकोंके लिये कर्तव्य तथा ईश्वर और परलोकको माननेसे लाभ एवं न माननेसे हानि

वर्तमान समयके दूषित वातावरणके प्रवाहमें बहते हुए बालकोंके हितके लिये उनको किस प्रकार अपना जीवन बिताना चाहिये—इस विषयमें शास्त्रके आधारपर प्रार्थनाके रूपमें विनयपूर्वक पुनः कुछ लिखा जाता है; क्योंकि उपदेश, आदेश देनेकी न तो मुझमें योग्यता है और न मैं उसका अधिकारी ही हूँ।

बालकोंको अपने निम्नलिखित कर्तव्यकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। जिनके माता-पिता जीवित हैं, वे अधिक आयुवाले होनेपर भी बालकवत् ही हैं।

माता-पिता-गुरुजनोंकी सेवा

माता, पिता और गुरुजनोंकी सेवा बालकोंके लिये परम धर्म है। श्रीमनुजी कहते हैं—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(मनु० २। २३७)

'इन तीनों—माता-पिता एवं गुरुकी सेवासे ही पुरुषके कर्तव्यकी समाप्ति हो जाती है अर्थात् उसे कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

यहाँ सेवासे अभिप्राय है—उनकी आज्ञाका पालन करना।

आज्ञाका पालन ही सबसे बढ़कर सेवा है। श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

(४२। ३)

यद्यपि उनके शरीरकी सेवा भी उनकी ही सेवा है तथापि उनकी आज्ञा, संतोष, संकेत और मनके अनुकूल उनके साथ व्यवहार करना उनकी परम सेवा है। जबतक माता-पिता और आचार्य जीवित हैं, तबतक पुत्र और शिष्यके लिये अन्य धर्मोंके पालनकी आवश्यकता नहीं है। यदि पालन किया भी जाय तो सेव्यके हितके लिये ही करना परम कर्तव्य है। श्रीमनुजी कहते हैं—

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥

(मनु० २। २२९)

'इन तीनोंकी सेवा ही परम तप कहा जाता है। अतः इन तीनोंकी आज्ञाके बिना अन्य किसी धर्मका आचरण न करे।'

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥

(मनु० २। २३०)

'क्योंकि ये ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों आश्रम हैं तथा ये ही तीनों वेद एवं तीनों अग्नि कहे गये हैं।'

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्मातारग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥

(मनु० २। २३१)

'पिता तो गार्हपत्य अग्नि है, माता दक्षिणाग्नि मानी गयी है तथा गुरु आहवनीय अग्नि है। इस प्रकार ये तीनों सर्वोत्तम अग्नि हैं।'

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद् दिवि मोदते॥

(मनु० २। २३२)

'इन तीनोंकी सेवामें कभी प्रमाद न करनेवाला गृहस्थ **भूः, भुवः, स्वः**—इन तीनों लोकोंको जीत लेता है तथा वह अपने तेजसे प्रकाशित हुआ देवताओंकी भाँति स्वर्गमें आनन्द प्राप्त करता है।'

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते॥

(मनु० २। २३३)

'मातृभक्तिसे मनुष्य इस पृथ्वीलोकके, पितृभक्तिसे मध्यम (अन्तरिक्ष) लोकके एवं गुरुसेवासे ब्रह्मलोकके सुख भोगता है।'

तैत्तिरीयोपनिषद्में आचार्य अपने स्नातक शिष्यको उपदेश देते हुए यही आदेश देते हैं—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

(१। ११)

'माता, पिता और आचार्यको देवता माननेवाले बनो।' क्योंकि—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

(मनु० २। २२७)

'माता-पिता बालकको जन्मने और उसका पालन-पोषण करनेमें जो क्लेश सहते हैं, बालक उसके बदलेमें सैकड़ों वर्ष उनकी सेवा करके भी उस ऋणसे नहीं छूट सकता।'

शास्त्रोंमें माता-पिता और गुरुकी सेवाके अनेक आदर्श उदाहरण मिलते हैं। माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे ही धर्मव्याध

त्रिकालज्ञ हो गये। जैसे मनुष्य देवताओंकी पूजा करते हैं; वैसे वे अपने माता-पिताको ही परम देवता मानकर उनको पुष्पोंसे, फलोंसे और धनसे प्रसन्न करते थे। वे स्वयं ही उन दोनोंके पैर धोते, स्नान कराकर उन्हें भोजन कराते तथा उनसे मीठे और प्रिय वचन कहते और उनके अनुकूल चलते थे। इस प्रकार वे आलस्यरहित हो शम-दम आदि साधनोंमें स्थिर हुए अपना परम धर्म समझकर मन-वाणी-शरीरद्वारा पुत्र और स्त्रीके साथ तत्परतासे उनकी सेवा किया करते थे। उसके प्रतापसे वे इस लोकमें अचल कीर्ति और दिव्यदृष्टिको पाकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए। उनकी कथा महाभारत, वनपर्वके २१४ वें और २१५ वें अध्यायोंमें देखनी चाहिये।

श्रीकौशिक मुनि भी, जो माता-पिताकी आज्ञा लिये बिना ही तप करने चले गये थे, इन धर्मव्याधके साथ वार्तालाप करके, तपसे माता-पिताकी सेवाको अधिक समझकर पुनः माता-पिताकी सेवा करके उत्तम गतिको प्राप्त हुए।

मूक चाण्डाल भी माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे ही भगवान्‌के परमधामको चले गये। इनकी कथा पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें पढ़नी चाहिये।

एक तपस्वी वैश्य-मुनिके पुत्र श्रवण भी माता-पिताके बड़े ही भक्त हुए हैं। संसारमें आज भी कोई माता-पिताकी सेवा करता है तो उसे श्रवणकी उपमा दी जाती है। श्रवणकी कथा वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्डके ६३ वें और ६४ वें सर्गोंमें विस्तारसे वर्णित है।

महाराज युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने तो माताकी शास्त्र और लोकसे विरुद्ध आज्ञाका भी पालन किया। एक स्त्रीके पाँच पति होनेकी बात न तो शास्त्रोंमें मिलती है और न लोकमें ही। माता

कुन्तीने अनजानमें यह आज्ञा दे दी थी कि 'आज जो कुछ भिक्षाके रूपमें लाये हो, उसका सभी भाई उपभोग करो।' पर जब माता कुन्तीको यह ज्ञात हुआ कि ये लोग एक स्त्रीको लाये हैं और मैंने बिना विचारे ही आज्ञा दे दी है, तब उन्होंने सोचा—'मेरे ये वचन सत्य कैसे होंगे?' किंतु राजा युधिष्ठिरने मातासे कहा—'आपका वचन सत्य करनेके लिये हम सभी इसके साथ विवाह करेंगे।' (महाभारत, आदि० १९०) तदनन्तर पाण्डवोंने वैसा ही किया।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामकी तो बात ही क्या है, वे तो राजा दशरथ और माता कैकेयीकी आज्ञाके पालनके लिये चौदह वर्ष बड़ी प्रसन्नताके साथ वनमें रहे।

इसी प्रकार गुरुकी आज्ञाके पालनके विषयमें भी महाभारत, उपनिषद् आदिमें बहुत-से दृष्टान्त पाये जाते हैं। महाभारत आदिपर्वके तीसरे अध्यायमें गुरु-भक्त आरुणिका आख्यान सब लोगोंके पढ़ने-योग्य एवं आदर्शरूप है। एक समय आयोदधौम्य मुनिने अपने शिष्य पंजाबनिवासी आरुणिसे कहा—'आरुणे! तुम खेतमें जाकर मेड़ बाँधकर जलको रोको।' आरुणि गुरुकी आज्ञा पाकर खेतमें गया पर प्रयत्न करनेपर भी वह किसी प्रकार जलको रोक नहीं सका। अन्तमें उसे एक उपाय सूझा और स्वयं पानीको रोकनेके लिये मेड़ बनकर लेट गया। उसके लेटनेसे जलका प्रवाह रुक गया। समयपर आरुणिके न लौटनेसे आयोदधौम्य मुनिने अपने अन्य शिष्योंसे पूछा— 'पंजाबनिवासी आरुणि कहाँ है?' शिष्योंने उत्तर दिया—'आपने ही तो उसे खेतकी मेड़ बाँधकर पानी रोकनेके लिये भेजा है।' शिष्योंकी बात सुनकर मुनिने कहा—'चलो, जहाँ आरुणि गया है, वहीं हम सब लोग चलें।' तदनन्तर गुरुजी वहाँ खेतके निकट पहुँचकर उसे बुलानेके लिये पुकारने लगे—'बेटा आरुणे! कहाँ हो, चले आओ।' आरुणि आचार्यकी बात सुनकर अपने

स्थानसे सहसा उठकर उनके निकट उपस्थित हुआ और बोला—'भगवन्! आपके खेतका जल निकल रहा था। मैं उसे किसी प्रकारसे रोक नहीं सका, तब अन्तमें मैं लेट गया, इसीसे जलका निकलना बंद हो गया। इस समय आपके पुकारनेपर सहसा आपके पास आया हूँ और प्रणाम करता हूँ। आप आज्ञा दीजिये, इस समय मुझको कौन-सा कार्य करना होगा।' गुरु बोले—'बेटा! तुम बाँधका उद्दलन करके निकले हो, इसलिये तुम 'उद्दालक' नामसे प्रसिद्ध होओगे।' यह कहकर उपाध्याय उसपर कृपा करते हुए फिर बोले—'तुमने तन-मनसे मेरी आज्ञाका पालन किया है, इसलिये सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र तुम्हारे मनमें बिना पढ़े ही प्रकाशित रहेंगे और तुम कल्याणको प्राप्त करोगे।' इस प्रकार गुरुका आशीर्वाद पाकर आरुणि गुरुकी आज्ञासे अपने देशको चला गया।

जबालाका पुत्र सत्यकाम भी बड़ा उच्च कोटिका गुरुभक्त था। उसने एक समय हारिद्रुमत गौतमके पास जाकर कहा—'मैं आपके यहाँ ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ वास करूँगा, इसलिये मैं आपके पास आया हूँ।' गुरुने कहा—'सौम्य! तू किस गोत्रका है?' सत्यकाम बोला—'भगवन्! मैं नहीं जानता।' तब गौतमने कहा—'ऐसा स्पष्ट भाषण ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता, अतएव तू ब्राह्मण है; क्योंकि तुमने सत्यका त्याग नहीं किया है।' फिर आचार्य गौतमने उसका उपनयन-संस्कार करनेके अनन्तर गौओंके झुण्डमेंसे चार सौ कृश और दुर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा—'सौम्य! तू इन गौओंके पीछे-पीछे जा।' गुरुकी इच्छा जानकर सत्यकामने कहा—'इनकी संख्या जबतक पूरी एक सहस्र न हो जायगी, तबतक मैं नहीं लौटूँगा।' यों कह वह एक अच्छे वनमें चला गया, जहाँ जल एवं तृणकी बहुतायत थी और बहुत कालपर्यन्त उन गौओंकी सेवा करता रहा। जब वे एक हजार हो गयीं; तब एक साँड़ने उससे

कहा—'सत्यकाम! हम एक सहस्त्र हो गये हैं, अब तुम हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दो।' सत्यकाम उन गौओंको आचार्यकुलमें ले आया। गुरु-आज्ञाके पालनके प्रतापसे उसको रास्ते चलते-चलते ही साँड़, अग्नि, हंस और मद्‌गुद्वारा विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी। यह कथा छान्दोग्योपनिषद्, चौथे अध्यायके चौथेसे नवें खण्डतक वर्णित है।

इन्हीं ब्रह्मवेत्ता सत्यकामका एक गुरुभक्त शिष्य था उपकोसल। उसने इनसे यज्ञोपवीत लेकर बारह वर्षतक इनकी सेवा की। तब सत्यकामकी भार्याने स्वामीसे कहा—'यह उपकोसल बहुत तपस्या कर चुका है, इसने अच्छी तरह आपके आज्ञानुसार अग्नियोंकी सेवा की है। अतएव इसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिये।' पर सत्यकामने उसे कुछ उत्तर नहीं दिया और उपदेश दिये बिना ही बाहर चले गये। उनके चले जानेपर उपवास करनेवाले उपकोसलको अग्नियोंने ब्रह्मका उपदेश दिया। उसके बाद गुरु लौटकर आये तब उन्होंने उससे पूछा—'सौम्य! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताका-सा लग रहा है, तुम्हें किसने उपदेश दिया है?' उपकोसलने संकेतसे अग्नियोंका लक्ष्य कराया। उसके बाद जब आचार्यने पूछा—'क्या उपदेश दिया है?' तब उसने सारी बातें ज्यों-की-त्यों कह सुनायीं। आचार्य बोले—'सौम्य! अब तुझे उस ब्रह्मका उपदेश मैं करूँगा। जिसे जान लेनेपर तू जलसे कमलपत्रके सदृश पापसे लिप्त नहीं होगा।' उपकोसलने कहा—'उपदेश दीजिये। इसपर आचार्यने उसे ब्रह्मका उपदेश दिया और उसे सुनकर वह ब्रह्मको प्राप्त हो गया।' इसकी कथा छान्दोग्योपनिषद्, चौथे अध्यायके दसवेंसे सत्रहवें खण्डतक कही गयी है।

आचार्य वेदके शिष्य उत्तंककी गुरुभक्तिका प्रसंग महाभारतके आदिपर्वके तीसरे अध्यायमें आता है। एक बार राजा जनमेजय

और पौष्यने आचार्य वेदको पुरोहितके रूपमें वरण किया। आचार्य वेद कभी पुरोहितीके कामसे बाहर जाते तो घरकी देख-रेखके लिये अपने शिष्य उत्तंकको नियुक्त कर जाते थे। एक बार आचार्य वेदने बाहरसे लौटकर अपने शिष्य उत्तंकके सदाचार-पालनकी बड़ी प्रशंसा सुनी। तब उन्होंने कहा—'बेटा! तुमने धर्मपर दृढ़ रहकर मेरी बड़ी सेवा की है। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम्हारी सारी कामनाएँ पूर्ण होंगी। अब जाओ।' उत्तंकने प्रार्थना की—'आचार्य! मैं आपको कौन-सी प्रिय वस्तु भेंटमें दूँ?' आचार्यने पहले तो कुछ भी लेना अस्वीकार किया, पीछे कहा—'अपनी गुरुआनीसे पूछ लो।' जब उत्तंकने गुरुआनीसे पूछा, तब उन्होंने कहा—'तुम राजा पौष्यके पास जाओ और उनकी रानीके कानोंके कुण्डल माँग लाओ। मैं आजसे चौथे दिन उन्हें पहनकर ब्राह्मणोंको भोजन परोसना चाहती हूँ।' इसपर उत्तंक राजा पौष्यकी रानीके पास गया और बड़ी कठिनाई झेलकर उनके कुण्डल ले आया एवं उसने वे कुण्डल ठीक समयपर गुरुआनीको देकर उनका आशीर्वाद प्राप्त किया।

इस प्रकार माता, पिता और गुरुकी आज्ञाके पालनके विषयमें और भी बहुत-से उदाहरण शास्त्रोंमें मिलते हैं। हमें उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

विद्या और शिक्षा

बालकोंको विद्याके साथ-साथ शिक्षापर विशेष ध्यान देना चाहिये। विद्याका अर्थ है—अनेक लिपियों और भाषाओंका ज्ञान। इनका भी अधिक-से-अधिक अभ्यास करना चाहिये; किंतु शिक्षाको तो अमृतके समान समझकर विशेषरूपसे ग्रहण करना चाहिये। शिक्षा ग्रहण करनेका अर्थ है—देश, कुल, वर्ण,

आश्रम और शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार सदाचारका पालन। इसीसे परम कर्तव्यरूप धर्मका प्रादुर्भाव होता है। महाभारतमें आया है—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥

(अनुशासनपर्व १४९। १३७)

सभी शास्त्रोंमें आचारको प्रथम माना जाता है। आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मके स्वामी भगवान् अच्युत हैं।

बाहर और भीतरकी पवित्रताको आचार कहते हैं। न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त शुद्ध और सात्त्विक आहारके द्वारा भोजनकी, मृत्तिका एवं जलके द्वारा शौच-स्नान करनेसे शरीरकी और स्वार्थ-त्यागपूर्वक सत्य व्यवहारसे आचरणोंकी शुद्धि होती है। यह बाहरकी पवित्रता है। इसी प्रकार ईश्वरभक्ति और निष्कामकर्मके द्वारा दुर्गुण-दुराचारोंका नाश होकर भीतरकी पवित्रता सम्पन्न होती है।

बालकोंको अपनी दिनचर्या किस प्रकार सदाचारमय बनाना चाहिये, यह नीचे बताया जाता है—

प्रातःकाल चार बजे उठकर शौचसे निवृत्त हो दाँतुन-कुल्ला और स्नान करना चाहिये। फिर अपने-अपने अधिकारके अनुसार संध्या-गायत्री, जप-ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि नित्यकर्म करने चाहिये। उसके बाद माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम करके विद्याभ्यास और शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये। फिर ११ बजे भोजन करके पुनः विद्याभ्यास तथा शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणकी उन्नतिके लिये माता-पिता और गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार कार्य करना चाहिये। सायंकालमें पुनः संध्या-गायत्री, जप, ध्यान और स्वाध्याय आदि नित्यकर्म करने चाहिये। रात्रिके समय भोजन करके पुनः माता-पिता और गुरुजनोंके संतोषके लिये उनकी

आज्ञाके अनुसार कार्य करना चाहिये। रात्रिमें १० बजेसे ४ बजेतक छः घंटे शयन करना चाहिये।

श्रद्धा-विश्वास

बालकोंको ईश्वर, महात्मा, परलोक, धर्म, शास्त्र और गुरुजनोंपर श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये। आजकल लोग जो ईश्वरकी सत्तामें संदेह करते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें सबसे बड़े प्रमाण तो शास्त्र हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(१८। ६१)

'अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ अन्तर्यामी परमेश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

इसके सिवा ईश्वरको हिंदू, ईसाई, मुसलमान—सभी आस्तिक मानते हैं एवं उनकी यह मान्यता युक्तिसंगत भी है। यदि कोई पूछे कि 'ईश्वर कहाँ है, कैसा है, कबसे है और कौन है?' तो इसका उत्तर यह है कि जो आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, तारे, विद्युत्, समुद्र आदिका उत्पादक और शासक है तथा कर्मानुसार सबको शुभाशुभ फल देता है, वही ईश्वर है। वह ईश्वर सर्वव्यापक है, सदासे है और चेतनस्वरूप है।

ईश्वरको मानना युक्तिसंगत किस प्रकार है? अब इस विषयपर विचार किया जाता है। थोड़ी देरके लिये मान लिया जाय कि ईश्वरका अस्तित्व संदेहास्पद है—उसके सम्बन्धमें

निश्चितरूपसे न यह कहा जा सकता है कि 'वह है' और न यही कहा जा सकता है कि 'वह नहीं है,' परंतु संदेहकी स्थितिमें भी न माननेकी अपेक्षा मानना अधिक लाभदायक है। यदि वास्तवमें ईश्वर नहीं है तो भी उसे माननेवाला किसी प्रकार नुकसानमें नहीं रहेगा; क्योंकि ईश्वरको माननेवाला कम-से-कम पाप और अनाचारसे तो बचा ही रहेगा तथा वह जीवमात्रको ईश्वरका स्वरूप, अंश अथवा संतान मानकर सबके साथ प्रेम एवं सहानुभूतिका बर्ताव करेगा, जिससे उसकी इस लोकमें अवश्य कीर्ति होगी। बदलेमें औरोंसे भी उसे सद्भाव एवं सहानुभूति ही मिलेगी, इससे उसका जीवन सुख-शान्तिसे बीतेगा और जगत्‌में भी वह उत्तम आदर्शके द्वारा सुख-शान्तिका ही प्रसार करेगा। ईश्वरके न होनेपर भी उसकी सत्ता माननेसे इतना लाभ तो प्रत्यक्ष ही है। इसके विपरीत यदि ईश्वर वास्तवमें है तो उसे माननेवाले सब प्रकारसे लाभमें रहेंगे ही; क्योंकि वे ईश्वरके विधानको मानकर उसकी आज्ञाके अनुसार चलकर उसकी प्रसन्नता प्राप्त करेंगे और इसके फलस्वरूप उन्हें इस लोकमें सुख-शान्ति, मान-प्रतिष्ठा, कीर्ति मिलेगी एवं मृत्युके बाद वे परम शान्तिस्वरूप परमात्माको प्राप्त होंगे। परंतु ईश्वरके रहते भी जो उसे न मानकर उसकी आज्ञाका उल्लंघन करते हैं, उसके जीवोंको सताते हैं, उन्हें जीते-जी बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा और मरनेके बाद उनकी बहुत दुर्गति होगी—जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, ईश्वरपर विश्वास करनेसे साधकोंको प्रत्यक्ष लाभ होते देखा जाता है। ईश्वरको माननेवालोंके दुर्गुण-दुराचारोंका नाश होकर उनके अन्तःकरणमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, सहृदयता, दया, क्षमा, निर्भयता, शान्ति, श्रद्धा, प्रेम आदि सद्‌गुण अपने-आप

आ जाते हैं। अतएव ईश्वरके अस्तित्वमें श्रद्धा-विश्वास करनेमें ही सबका सब प्रकारसे लाभ है।

इसी प्रकार परलोकके अस्तित्वके विषयमें शास्त्र ही सर्वोपरि प्रमाण हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

(२। १२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(२। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था—ये तीन अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति भी उसे होती है; उसके विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(२। २०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(२।२२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(१३।२१)

'प्रकृतिमें स्थित ही पुरुष (जीवात्मा) प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

भगवान्‌के इन वचनोंसे तो परलोक सिद्ध है ही, युक्तिसे भी परलोक सिद्ध होता है। बालक जन्मनेके समय दुःख अनुभव करता है तो रोता है। जन्मनेके बाद जब सुख अनुभव करता है, तब वह हँसता है। भय उत्पन्न होनेसे वह कम्पित होता है। माताके स्तनोंसे वह स्वतः ही दूधका आकर्षण करता है। नींद आनेपर सोता है, इत्यादि। उसकी ये क्रियाएँ पुनर्जन्मको सिद्ध करती हैं। जन्म लेनेके बाद यहाँ तो उसने यह सब सीखा नहीं; इसलिये पूर्वजन्मका अभ्यास ही इस जन्ममें उससे उपर्युक्त क्रियाएँ कराता है—यह मानना पड़ेगा। फिर संसारमें कोई तो पशु है, कोई पक्षी और कोई मनुष्य है एवं मनुष्योंमें भी कोई धनी, कोई निर्धन, कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई सुरूप, कोई कुरूप, कोई नीरोग और कोई रोगी देखनेमें आता है। ये सब विषमताएँ

भी पूर्वजन्मको सिद्ध करती हैं। जब पूर्वजन्म है तो पुनर्जन्म भी है ही। यदि बिना ही कारण ईश्वरने ऐसी विषम सृष्टि उत्पन्न कर दी—यह माना जाय तो न्यायकारी दयालु ईश्वरपर निर्दयता और विषमताका दोष आयेगा; जो सर्वथा अनुचित है। इसलिये युक्तिसे भी यही सिद्ध होता है कि परलोक अवश्य है।

फिर भी कोई मान सकता है कि परलोक नहीं है और इधर हम कहते हैं कि परलोक है; ऐसी स्थितिमें यदि उसीकी बात सत्य हो तो उससे भी हमारी कोई हानि नहीं; क्योंकि परलोक न होनेकी स्थितिमें परलोकको न माननेवालेका कोई विशेष लाभ होता हो और माननेवालेको कोई दण्ड होता हो—ऐसी बात तो है नहीं; किंतु यदि हमारे पक्षके अनुसार परलोक है तो हमारी मान्यता हमारे लिये बहुत लाभदायक सिद्ध होगी; क्योंकि हम परलोक मानकर दण्डके भयसे कोई भी बुरा काम नहीं करेंगे, अपितु इस लोक और परलोकमें सुख प्राप्त करनेके लिये अच्छा काम करेंगे; किन्तु जो परलोक नहीं मानता, उसे पापका दण्ड तो भोगना ही पड़ेगा और बिना श्रद्धाके अच्छा काम न करनेके कारण वह सुखसे भी वंचित रह जायगा, अतः उसकी सब प्रकारसे हानि-ही-हानि है। अच्छे काम करनेवाले पुरुषका इस लोकमें प्रत्यक्ष मान होता है और जो बुरा काम करता है वह प्रत्यक्ष ही घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता है; उसका जीवननिर्वाह भी कठिन हो जाता है। इसलिये ईश्वर और परलोकको माननेमें सब प्रकारसे लाभ है और न माननेमें हानि-ही-हानि है। सुतरां ईश्वर और परलोकको अवश्य मानना चाहिये तथा सदा-सर्वदा उनको याद रखते हुए धर्मके अनुसार अपना जीवन बिताना चाहिये। इसीमें यहाँ-वहाँ सर्वत्र कल्याण है।

बालकोपयोगी शिष्टाचार

१—प्रातःकाल निद्रा खुलते ही भगवान्‌का अवश्य-अवश्य स्मरण करो और रातको सोते समय भी भगवान्‌का स्मरण करके भगवन्नाम लेते हुए सो जाओ। इससे तुम्हें बुरे सपने कभी नहीं आयेंगे और चित्त प्रसन्न रहेगा।

२—नियमितरूपसे नित्य भगवन्नामकी प्रार्थना करो। प्रार्थनाके समान मनोबल और किसी उपायसे प्राप्त नहीं होता।

३—किसी भगवन्नामके जपकी एक संख्या निश्चित कर लो। उतना जप नित्य अवश्य करो। जपके समान बुद्धिको शुद्ध और तीव्र करनेवाली दूसरी कोई ओषधि संसारमें नहीं है।

४—देवताओंमें श्रद्धा रखो और जब किसी देवस्थानके सामनेसे निकलो, देवताको अवश्य मस्तक झुकाकर प्रणाम करो। देवताओंकी कृपासे मन प्रसन्न रहता है।

५—सदा संतुष्ट रहो। जो कुछ भोजन, वस्त्र या दूसरी वस्तुएँ तुम्हें मिलती हैं, उनको पाकर संतुष्ट और प्रसन्न रहो। दूसरोंकी वस्तुओंको देखकर ललचाओ मत।

६—तुम्हारी कोई वस्तु नष्ट भी हो जाय तो दुःख या क्रोध मत करो। वह वस्तु कभी-न-कभी तो नष्ट होती ही। बुद्धिमान् बालक सदा संतुष्ट रहते हैं।

७—सदा प्रसन्न बने रहो। कष्टमें, रोगमें भी अपनेको प्रसन्न रखो। कष्ट तो जो हो रहा है, वह होगा ही; किन्तु मनको दुःखी करनेसे मनकी व्यथा और बढ़ जायगी। यदि तुम चित्तको प्रसन्न रखोगे तो कष्टकी पीड़ा तुम्हें तुच्छ जान पड़ेगी।

८—किसीके अपराध करनेपर भी क्रोध मत करो। उसे क्षमा कर दो।

९—बड़ोंकी आज्ञाका पालन करो। सदाचारपूर्वक रहो और भगवान्‌की असीम कृपा तुमपर है, इस बातपर पूरा विश्वास रखो।

१०—बड़ोंको कभी 'तुम' मत कहो, उन्हें 'आप' कहो और अपने लिये 'हम' का प्रयोग मत करो, 'मैं' कहो।

११—जो गुरुजन घरमें हैं, उन्हें सबेरे उठते ही प्रणाम करो। अपनेसे बड़े लोग जब पहले मिलें, जब उनसे भेंट हो, प्रणाम करना चाहिये।

१२—जहाँ दीपक जलानेपर या मन्दिरमें आरती होनेपर सायंकाल प्रणाम करनेकी प्रथा हो, वहाँ उस समय भी प्रणाम करना चाहिये।

१३—जब किसी नवीन व्यक्तिसे परिचय कराया जाय, तब उन्हें प्रणाम करना चाहिये। पान-इलायची या पुरस्कार जब कोई दे, तब उस समय भी उसे प्रणाम करना चाहिये।

१४—गुरुजनोंको पत्र-व्यवहारमें भी प्रणाम लिखना चाहिये।

१५—प्रणाम करते समय हाथमें कोई वस्तु हो तो उसे बगलमें दबाकर या एक ओर रखकर प्रणाम करना चाहिये।

१६—चिल्लाकर या पीछेसे प्रणाम नहीं करना चाहिये। सामने जाकर शान्तिसे प्रणाम करना चाहिये।

१७—प्रणामकी उत्तम रीति दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाना है। जिस समाजमें प्रणामके समय जो कहनेकी प्रथा हो, उसी शब्दका व्यवहार करना चाहिये। महात्माओं तथा साधु-संतोंके चरण छूनेकी प्राचीन प्रथा है।

१८—जब कोई भोजन कर रहा हो, स्नान कर रहा हो, बाल बनवा रहा हो, शौच जाकर हाथ न धोये हो तो उस समय उसे प्रणाम नहीं करना चाहिये। उसके इन कार्योंसे निवृत्त होनेपर प्रणाम करना चाहिये।

॥ श्रीहरिः ॥

परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके शीघ्र कल्याणकारी प्रकाशन

कोड	पुस्तक
683	तत्त्वचिन्तामणि
814	साधन-कल्पतरु (तेरह महत्त्वपूर्ण पुस्तकोंका संग्रह)
1597	चिन्ता-शोक कैसे मिटें?
1631	भगवान् कैसे मिलें?
1653	मनुष्य-जीवनका उद्देश्य
1681	भगवत्प्राप्ति कठिन नहीं
1666	कल्याण कैसे हो?
527	प्रेमयोगका तत्त्व
242	महत्त्वपूर्ण शिक्षा
528	ज्ञानयोगका तत्त्व
266	कर्मयोगका तत्त्व (भाग-१)
267	कर्मयोगका तत्त्व (भाग-२)
303	प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय
298	भगवान्के स्वभावका रहस्य
243	परम साधन—भाग-१
244	,, ,, भाग-२
245	आत्मोद्धारके साधन-भाग-१
335	अनन्यभक्तिसे भगवत्प्राप्ति
579	अमूल्य समयका सदुपयोग
246	मनुष्यका परम कर्तव्य (भाग-१)
247	,, ,, (भाग-२)
611	इसी जन्ममें परमात्मप्राप्ति
588	अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति
1296	कर्णवासका सत्संग
1015	भगवत्प्राप्तिमें भावकी प्रधानता
248	कल्याणप्राप्तिके उपाय
249	शीघ्र कल्याणके सोपान
250	ईश्वर और संसार
519	अमूल्य शिक्षा
253	धर्मसे लाभ अधर्मसे हानि
251	अमूल्य वचन तत्त्वचिन्तामणि
252	भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा
254	व्यवहारमें परमार्थकी कला
255	श्रद्धा-विश्वास और प्रेम
258	तत्त्वचिन्तामणि
257	परमानन्दकी खेती
260	समता अमृत और विषमता विष
259	भक्ति-भक्त-भगवान्
256	आत्मोद्धारके सरल उपाय
261	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान
262	रामायणके कुछ आदर्श पात्र
263	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र
264	मनुष्य-जीवनकी सफलता—भाग-१
265	मनुष्य-जीवनकी सफलता—भाग-२
268	परमशान्तिका मार्ग—भाग-१
269	परमशान्तिका मार्ग—भाग-२
543	परमार्थ-सूत्र-संग्रह
1530	आनन्द कैसे मिले?
769	साधन नवनीत

कोड	पुस्तक
599	हमारा आश्चर्य
681	रहस्यमय प्रवचन
1021	आध्यात्मिक प्रवचन
1324	अमृत वचन
1409	भगवत्प्रेम-प्राप्तिके उपाय
1433	साधना पथ
1483	भगवत्पथ-दर्शन
1493	नेत्रोंमें भगवान्‌को बसा लें
1435	आत्मकल्याणके विविध उपाय
1529	सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव कैसे हो ?
1561	दुःखोंका नाश कैसे हो ?
1587	जीवन-सुधारकी बातें
1022	निष्काम श्रद्धा और प्रेम
292	नवधा भक्ति
274	महत्त्वपूर्ण चेतावनी
273	नल-दमयन्ती
277	उद्धार कैसे हो ?— ५१ पत्रोंका संग्रह
278	सच्ची सलाह— ८० पत्रोंका संग्रह
280	साधनोपयोगी पत्र
281	शिक्षाप्रद पत्र
282	पारमार्थिक पत्र
284	अध्यात्मविषयक पत्र
283	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ
1120	सिद्धान्त एवं रहस्यकी बातें
680	उपदेशप्रद कहानियाँ
891	प्रेममें विलक्षण एकता
958	मेरा अनुभव
1283	सत्संगकी मार्मिक बातें
1150	साधनकी आवश्यकता

कोड	पुस्तक
320	वास्तविक त्याग
285	आदर्श भ्रातृप्रेम
286	बालशिक्षा
287	बालकोंके कर्तव्य
272	स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा
290	आदर्श नारी सुशीला
291	आदर्श देवियाँ
300	नारीधर्म
271	भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कैसे हो ?
293	सच्चा सुख और.......
294	संत-महिमा
295	सत्संगकी कुछ सार बातें
301	भारतीय संस्कृति तथा शास्त्रोंमें नारीधर्म
310	सावित्री और सत्यवान्
299	श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश— ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप
304	गीता पढ़नेके लाभ और त्यागसे भगवत्प्राप्ति— गजल-गीतासहित
623	धर्मके नामपर पाप
309	भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय- (कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ)
311	परलोक और पुनर्जन्म एवं वैराग्य
306	धर्म क्या है ? भगवान् क्या हैं ?
307	भगवान्‌की दया (भगवत्कृपा एवं कुछ अमृत-कण)
316	ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नाम-जप सर्वोपरि साधन है और सत्यकी शरणसे मुक्ति
314	व्यापार-सुधारकी आवश्यकता और हमारा कर्तव्य
1944	परम सेवा